मूल्य : 100 रुपये
ISSN 0973-1490

UGC APPROVED JOURNAL
(UGC CARE LISTED JOURNAL)

चिन्तन-सृजन

वर्ष-23 संयुक्तांक अंक : 1-4 (जुलाई-सितम्बर 2025, अक्टूबर-दिसम्बर 2025, जनवरी-मार्च 2026, अप्रैल-जून 2026)

www.asthabharati.org

आस्था भारती, दिल्ली

UGC CARE LISTED JOURNAL

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष : 23

अंक : 1-4 (जुलाई-सितम्बर 2025, अक्टूबर-दिसम्बर 2025, जनवरी-मार्च 2026, अप्रैल-जून 2026)

संस्थापक सम्पादक

स्व. बी.बी. कुमार

▼

सम्पादक

प्रो. शिवनारायण

▼

परामर्शी मंडल

श्री पी.सी. हलधर
अध्यक्ष, आस्था भारती, दिल्ली

प्रो. टी.जी. प्रभाशंकर प्रेमी
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बेंगलूर विश्वविद्यालय

प्रो. श्यौराज सिंह बेचैन
वरिष्ठ प्रोफेसर, हिन्दी, दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रो. देवशंकर नवीन
प्रोफेसर, हिन्दी, जे.एन.यू., दिल्ली

प्रो. चिट्टि अन्नपूर्णा
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय

आस्था भारती
दिल्ली–110096

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	400.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	600.00 रुपये
विदेशों में	$ 60

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	100.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	$ 16

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपये
अन्दर कवर	15,000.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपये

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

फ्लैट नं.–371, वंदनवाड़ी अपार्टमेन्ट, प्लॉट–8, सेक्टर–10, द्वारिका, नई दिल्ली–110075

आस्था भारती, दिल्ली के लिए के.एम.एस. राव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एंड प्रिंटर्स, ई–33, सेक्टर–ए.5/6, उ.प्र. समापन क्षेत्र, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद–201103 (उ.प्र.)द्वारा मुद्रित।

ई–मेल : asthabharati1@gmail.com / shivnarayan22@yahoo.com

वेबसाईट : www.asthabharati.org

चिन्तन–सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के अपने हैं। उनसे सम्पादक/आस्था भारती की सहमति अनिवार्य नहीं।

विषय–क्रम

संपादकीय परिप्रेक्ष्य
किराये की कोखवालियाँ 5
प्रो० शिवनारायण

साहित्य–चिंतन

1. 'मधुशाला' में व्यक्त 'जीवन दर्शन और प्रतीक विधान' 10
प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन'
2. रामधारी सिंह 'दिनकर' की बाल–कविता 17
मनजीत कुमार सिंह
3. हिन्दी गजल का बहुआयामी अध्ययन 23
गरिमा सक्सेना
4. ज्ञान चतुर्वेदी का योगदान 28
पूर्णिमा कुमारी
5. निर्गुण संत कविता में काव्यशास्त्रीय तत्व 35
सर्वेश मिश्र
3. बेरोजगारी के प्रश्न और कोरोजीवी कविता 43
डॉ. अनिल कुमार पांडेय
4. लघु पत्रिकाओं के अस्तित्व का प्रश्न 51
पंकज चौधरी

अस्मितामूलक चिंतन

6. दलित जन्मजात आजीवक 62
कैलाश दहिया
7. महादेवी वर्मा के काव्य में 'स्त्री विमर्श' 68
डॉ. साक्षी

8. हिन्दी गजलों में स्त्री स्वर 78
जियाउर रहमान जाफरी

9. दलित विमर्श 84
डॉ. आशा कुमारी

शब्द चिंतन

9. धर दीनी चदरिया 90
डॉ. इरतिजा करीम

10. असंभव के विरुद्ध 'संपा' 95
डॉ. प्रशांत रमण रवि

11. बुद्ध और फराओ का लोक चिंतन 99
डॉ. धर्मवीर सिंह

12. रामकाव्य की नवीन संवेदना 105
डॉ. आशीष कुमार पांडेय

13. सीताराम दीन का साहित्य चिंतन 113
डॉ. मनोज कुमार गुप्ता

14. संघर्ष और सपनों का मुकाम 122
डॉ. सुशांत कुमार

15. साहित्य के फलक में चमकता सितारा 125
रूबी भूषण

■

संपादकीय परिप्रेक्ष्य

किराये की कोखवालियाँ

प्रो० शिवनारायण

उससे मेरी पहली मुलाकात कोई सात साल पहले हुई होगी। बिहार के पूर्वोत्तर सीमांत स्थित एक छोटे से कसबे फारबिसगंज में बाल व्यापार को लेकर तीन दिनों की कार्यशाला थी, जिसमें कोई सौ प्रतिभागी थे। सभी प्रतिभागी विभिन्न स्वयंसेवी संगठनों, पंचायतों से थे। शबनम खातून भी उनमें एक थी। वह बेलौस बोलती–बतियाती और खानपान से लेकर वेशभूषा तक की दरिद्रता में भी संपन्नता का एहसास कराने की चाहत से लकदक दिखती। उसके इसी उजास ने मुझे अपनी ओर खींचा था। अपना सेशन समाप्त कर, जब मैं लौट रहा था, तो आयोजक की ओर से वह मुझे स्टेशन तक छोड़ने आई थी। वह सुंदर नहीं थी, पर चेहरे पर गजब का पानी था, जो किसी को भी अपनी ओर आकर्षित कर लेता। कोई आधे घंटे की उससे मेरी वही मुलाकात थी, जिसमें खुलकर उसने आसमान में उड़ने की अपनी चाहत प्रकट की थी। इतने वर्षों बाद उससे फिर मुलाकात होगी, सोचा न था। बीते दिनों मैं कोलकाता से पटना लौट रहा था कि हावड़ा स्टेशन पर उससे भेंट हो गई। उसे महँगे कपड़े–गहनों में देखकर पहली नजर में उसे पहचान पाना कठिन था, लेकिन जब उसने मुझे 'नमस्ते' करते हुए अपना परिचय दिया, तो उसे देखते हुए मुझे हैरानी और खुशी दोनों की अनुभूति हुई।

उस दिन शबनम से लगभग आधे घंटे तक मेरी बातचीत हुई। वह बेंगलुरु जा रही थी। कारण पूछने पर उसने जो कुछ बताया, उस पर सहसा विश्वास करना कठिन था। मैंने उसे गौर से निहारा। उसका शरीर गदराया हुआ था। त्वचा नर्म और चमकदार हो गई थी। दरअसल वह अपना कोख किराये पर रखने का व्यवसाय करने लगी थी। मेरे पूछने पर कि वह कितने वर्षों से इस पेशे में है, उसने बताया कि बीते पाँच वर्षों से वह इस व्यवसाय में है और तीसरी बार अपना कोख किराये पर रखने के लिए बेंगलुरु जा रही है। इसके साथ ही उसने अपना पूरा अतीत मेरे सामने खोलकर रख दिया। पहली बार जब भाँति–भाँति के प्रलोभनों द्वारा इस पेशे में लाने के उद्देश्य से एक डॉक्टर ने उसे अपना कोख किराये पर रखने के एवज में पचास हजार रुपये दिलाने का भरोसा दिया, तो वह एकदम से तैयार हो गई। उतने रुपये उसने कभी देखे न थे। चुपके से एक दिन वह अपने घर से निकल गई। तब उसकी उम्र लगभग बाइस–तेइस की रही होगी। जितने दिन बाहर रही,

सुख–समृद्धि से लबालब सपनों में तैरती रही। भय, संशय, वैभव जैसे मिश्रित भावों में रहने के बाद काम खत्म कर जब घर लौटी, तो लगा जैसे स्वर्ग से निष्कासित की जा रही हो। गरीब माँ–बाप को समझाने में उसे अधिक मेहनत नहीं करनी पड़ी। क्षेत्र में लोग यह जानकर कि उसे परदेश में अच्छी नौकरी मिल गई है, संतुष्ट हो गए। उस नई दुनिया की सैर और उसके अनुभवों से शबनम ने अपने को भौतिक ऐश्वर्य से अनुकूलित किया। गर्ल्स ट्रैफिकिंग पर मैं वर्षों से काम करता रहा हूँ। गरीबी से तंग माँ–बाप अपनी बेटी के हाथ पीले करने की जल्दी में दलालों की गिरफ्त में आ जाते हैं। नौकरी दिलाने, फिल्मों में काम दिलाने आदि के नाम पर भी नाबालिग लड़कियाँ दलालों के चंगुल में फँस जाती हैं। फिर छद्म विवाह द्वारा भी लड़कियाँ बाहर ले जाकर बेच दी जाती हैं। पर शबनम के साथ तो ऐसा कुछ नहीं हुआ। वह अपनी सहमति से सरोगेसी के पेशे में गई। हावड़ा स्टेशन पर वह मुझे काफी खुश और संतुष्ट दिखी। अंतर्मन से जाने वह खुश थी भी या नहीं!

सरोगेट मदर यानी किराये की माँ! किसी और को अपने काम के लिए नियुक्त करना ही सरोगेसी है। बच्चे को जन्म देने में अक्षम महिलाएँ जब किसी सक्षम महिला की कोख किराये पर लेती है, तो वह सरोगेट मदर कहलाती है। इसमें शुक्राणु और अंडाणु को निषेचित कराकर भ्रूण को किराये की कोख में डाल दिया जाता है। इसमें एक प्रतिशत अंश भी किराये की कोखवाली का नहीं होता। जाहिर है, इस प्रक्रिया से बच्चों के साथ मूल माता–पिता या माता और पिता में से एक का आनुवांशिक संबंध बना रहता है। इस तरह जन्म लेने वाले बच्चे का रंग, लंबाई, बालों का रंग और प्रकृति, आनुवांशिक गुण आदि सबके सब जेनरिक माँ–बाप के होते हैं। आमतौर पर सरोगेसी के दो प्रकार होते हैं– ट्रेडिशिनल और गेस्टेशनल। ट्रेडिशिनल सरोगेसी की प्रक्रिया में दंपत्ति में से पिता के शुक्राणुओं को एक स्वस्थ महिला के अंडाणु के साथ प्राकृतिक रूप से निषेचित किया जाता है। शुक्राणुओं को सरोगेट मदर के नेचुरल ओव्यूलेशन के समय डाला जाता है, जिसमें जेनेटिक संबंध सिर्फ पिता से होता है। इस प्रक्रिया में 8 हजार रुपये खर्च होते हैं। गेस्टेशनल सरोगेसी की प्रक्रिया में माता–पिता के अंडाणु एवं शुक्राणुओं का मेल परखनली विधि से करवाकर भ्रूण को किराये की कोख में प्रत्यारोपित किया जाता है। इसमें बच्चे का जेनेटिक संबंध माता–पिता दोनों से होता है। इस प्रक्रिया में सरोगेट मदर को ओरल पिल्स खिलाकर अंडाणुविहीन चक्र में रखना पड़ता है, जिससे बच्चा होने तक उसके अपने अंडाणु न बने सकें। इस प्रक्रिया में लगभग 1.5 से 1.8 लाख रुपये तक का खर्च आता है।

किराये की कोख के द्वारा बच्चे के जन्म के लिए आज भारत को सबसे उर्वर स्थान माना जा रहा है। यों तो सन् 2002 में ही भारत में बतौर पेशा सरोगेसी को मान्यता मिल गई थी, किंतु बीते दो–तीन वर्षों में इस पेशे में काफी तेजी आई है। भारत के कुछ खास स्थानों मसलन ओड़ीसा, केरल, तमिलनाडु, मुम्बई, भोपाल, बेंगलुरु आदि में सरोगेसी काफी फल–फूल रहा है। सरोगेसी भारत में

एक पर्यटन व्यवसाय का रूप लेता जा रहा है। काफी संख्या में विदेशी आते हैं और इच्छुक किराये की कोखवालियों को टूर ऑपरेटर पूरा पैकेज ऑफर करते हैं। यहाँ के नर्सिंग होम्स से उनका संपर्क रहता है। किराये की कोख के द्वारा बच्चों को जन्म देने के लिए भारत को सर्वोत्तम स्थान मानने के पीछे यहाँ की महिलाओं की जीवन–संस्कृति है। यहाँ की महिलाओं के जीवन में नशीले पदार्थ, मद्यपान, धूम्रपान आदि के लिए नहीं के बराबर जगह रहती है। उनका जीवनयापन प्रकृति के अनुकूल होता है, जिसका बच्चे के स्वास्थ्य पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। फिर आर्थिक दृष्टि से भी भारत में सरोगेट मदर काफी सस्ता है। भारत में किराये की कोख पर 50 हजार से एक लाख रुपये तक का खर्च आता है, जबकि इंग्लैंड, अमेरिका आदि देशों में इसी काम के लिए भारत से सात गुणा अधिक खर्च पड़ता है। विदेशी महिलाओं की जीवनशैली कृत्रिम होने की वजह से वह माँ नहीं बन सकती या नहीं बनना चाहती। फिर कोख किराये पर लगाने की इच्छुक महिलाएँ भी वहाँ बहुत कम मिलती हैं। एक अध्ययन के अनुसार आज विश्व में प्रतिवर्ष 500 बच्चे किराये की कोख से उत्पन्न होते हैं, तो उनमें अकेले भारत में प्रतिवर्ष 200 बच्चों का जन्म हो रहा है। विश्वभर में तीन फीसदी लोग ऐसे हैं, जिनकी शारीरिक रचना सामान्य स्त्री–पुरुषों की तरह होने के बावजूद वे संतान सुख प्राप्त नहीं कर पाते।

सरोगेसी से पैदा हुए बच्चे पर जेनेटिक माता–पिता का अधिकार होता है। गोद लेने वाले मामलों की तरह इसमें किसी घोषणा की जरूरत नहीं होती। बच्चे के जन्म प्रमाण पत्र में केवल जेनेटिक माता–पिता का नाम होता है। सरोगेसी कॉन्ट्रेक्ट में सरोगेट मदर का बीमा कराया जाना अनिवार्य है। यदि सरोगेट बच्चे के जन्म से पहले जेनेटिक माता–पिता की मृत्यु हो जाती है या उनके बीच तलाक हो जाता है या उनमें से कोई भी बच्चे को लेने से मना कर देता है, तो बच्चे के लिए आर्थिक सहयोग की व्यवस्था की जाती है। भारत में सरोगेट मदर के बढ़ते चलन को ध्यान में रखकर ही इंडियन काउंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च ने असिस्टेंड प्रोडक्शन तकनीक बिल 2010 का मसौदा भी तैयार किया है, जिसे कानूनी रूप दिया जाना शेष है। फिलहाल सरोगेसी को यूएसए के कुछ राज्यों में वैध माना जाता हैय तो जर्मनी, स्वीडन, नार्वे, इटली, आस्ट्रेलिया आदि देशों में यह अवैध कृत्य है। इसके साथ ही फ्रांस, यूनान, डेनमार्क और नीदरलैंड में इसका व्यावसायिक प्रयोग भी कानूनन वर्जित है। सरोगेसी में अन्य विवाद भी हैं। मसलन सरोगेट मदर बच्चे को जन्म देने के बाद भावनाओं के आवेश से वशीभूत होकर जेनेटिक माता–पिता को देने से इनकार कर देती हैं। इसके अलावे यदि बच्चे विकलांग पैदा हो जाएँ या फिर जुड़वा पैदा हो जाएँ, तो जेनेटिक माता–पिता उसे अपनाने से इनकार कर देते हैं। ऐसी ही अनेक पेचीदगी रहती हैं। बावजूद इन सबके सरोगेसी का व्यवसाय आज काफी फल–फूल रहा है।

सरोगेसी विकसित देशों का व्यवसाय है, जिसे पूँजी बाजार से नियंत्रित

विकसित समाज ने जन्म दिया है। पूँजी में प्रसार की असीमित क्षमता होती है, जिसकी वजह से यह व्यवसाय विकासशील और अविकसित देशों में फैल रहा है। कहते हैं सरोगेसी के फैलने की सबसे बड़ी वजह है गरीबी। गरीबी का अभिशाप ही महिलाओं को इस पेशे में धकेलता है। शबनम भी इसी वजह से इस पेशे में आई। बाँझपन भी इस पेशे के फैलने का एक बड़ा कारण है। मातृत्व सुख प्राप्त करने की प्रकृत आकांक्षा जब बाँझपन के कारण पूरी नहीं हो पाती, तो महिलाएँ विवश होकर किराये की कोख के द्वारा मातृत्व सुख पाना चाहती हैं। आज भारत में प्रतिवर्ष जितने विवाह होते हैं, उनमें दस प्रतिशत महिलाएँ बाँझपन के कारण मातृत्व सुख से वंचित हो जाती हैं। आजकल समान लिंगों में होने वाले विवाह भी इसके कारण हैं। लेस्बियन और गे जोड़ियों में भी माँ–बाप बनने की इच्छा बलवती होने के कारण सरोगेसी का प्रचलन बढ़ रहा है। भारत में प्रस्तावित ए.आर.टी. कानून में ऐसा प्रावधान किया गया है, जिससे एकल स्त्री और पुरुष, गे, लेस्बियन तथा लिव इन रिलेशनशिप में रहने वाले भी संतान सुख प्राप्त कर सकेंगे। इस कानून के ड्राफ्टिंग कमेटी के सदस्य डॉ. पी.एम. भार्गव की माने तो इस कानून का लाभ भारत में सभी लोगों, मसलन एकल व्यक्ति, विवाहित जोड़ों और अविवाहित जोड़ों को मिलेगा। एकल विवाहित या अविवाहित स्त्री की स्थिति में संतान पर उस औरत का कानूनी हक होगा। इसी प्रकार एकल विवाहित या अविवाहित पुरुष के मामले में संतान पर पुरुष का कानूनी हक होगा। बच्चे के जन्म प्रमाण पत्र में अभिभावक के रूप में स्त्री या पुरुष में से किसी एक का नाम लिखा जाएगा। प्रस्तावित अधिनियम में कपल का प्रयोग आपसी सहमति से एक साथ रहने वाले दो व्यक्तियों के संदर्भ में किया गया है, जिनमें यौन संबंध हो। ऐसे संबंध जो भारत में कानूनन वैध हों। इसी प्रकार अविवाहित जोड़े का अर्थ है, विवाह कर सकने योग्य दो जोड़े, जो बिना शादी किए आपसी सहमति से एक साथ रह रहे हों। देश में इसके लिए कानून है। किसी विवाहित या अविवाहित जोड़े के आपसी सहमति से अलग या तलाक हो जाने पर भी किराये की कोख का बच्चा उनकी संतान माना जाएगा। ए.आर.टी. में लेस्बियन जोड़े तथा लिव इन रिलेशनशिप के रूप में रहने वालों को भी पहली बार शामिल किया गया है।

भारत में किराये की कोख का बाजार तेजी से बढ़ता जा रहा है। सुदूर कस्बाई क्षेत्रों तक इसका फैलाव हो गया है, जहाँ से शबनम जैसी मासूम और गरीब लड़कियाँ भी इसकी गिरफ्त में आकर अपने को खुशनसीब समझ रही हैं! सरोगेसी का संजाल बढ़ता जा रहा है। हालाँकि अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान की डॉ. अलका कृपलानी बताती हैं कि विकृत गर्भाशय होने या गर्भावस्था होने पर माँ की जान को खतरा होने की स्थिति में इस प्रक्रिया को अपनाने की सलाह दी जाती है, लेकिन भारत में धीरे–धीरे इसके और कारण बन रहे हैं। विशेषज्ञों के अनुसार अन्य देशों की तुलना में भारत में सरोगेसी की प्रक्रिया ज्यादा बेहतर होती है। लगभग 60 प्रतिशत मामलों में महिलाएँ केवल रुपयों के लिए मातृत्व का दान करती हैं, जबकि अन्य जिंदगी में कुछ सुख भरे पल को हासिल

करने के लिए ऐसा करती हैं। जो हो, पर अपने यहाँ यह व्यवसाय तेजी से पंख पसार रहा है। अंडाणु दान को लेकर अनेक संस्थाएँ काम करने लगी हैं, जिनमें आई.वी.एफ. प्रजनन शोध केंद्र आदि प्रमुख हैं। इन संस्थाओं का कार्य विस्तार बताता है कि देश में रुपये के लिए बड़ी संख्या में 18 से 35 वर्ष की महिलाएँ इस व्यवसाय से जुड़ रही हैं। आर्थिक स्वतंत्रता महिलाओं के सशक्तीकरण में सहायक होती हैं, जिसके लिए अन्य कोई काम न मिलने पर इस व्यवसाय की ओर वे आकृष्ट होती हैं। फिर पूँजी या बाजार संकृति के विकास ने अनेक वर्जनाओं को तोड़कर खुले समाज का निर्माण किया है, उसके कारण भी भारतीय महिलाएँ खुल–खिलकर सामने आ रही हैं और अपनी आत्मनिर्भरता के लिए इच्छित पेशे का चयन कर रही हैं, चाहे वह सरोगेसी का व्यवसाय ही क्यों न हो!

बाजार की संस्कृति मनुष्य में इच्छाएँ ही नहीं बढ़ाती, उनमें स्पर्द्धा भी लाती है। उसी स्पर्द्धा में हर छोटा वर्ग अपने से बड़े वर्ग की बराबरी करने की होड़ में धनार्जन के लिए हर वह काम करने को तैयार हो जाता है, जो उसे भौतिक समृद्धि के साथ–साथ सुख–ऐश्वर्य प्रदान करें। इस काम में मूल्य, संवेदना, विचार आदि को हाशिये में डाल दिया जाता है, जो मनुष्य में नैतिकता, सिद्धांत और संस्कारों को जन्म देता है। कभी भारतीय संस्कृति का मूल उपजीव्य था 'तेन त्यक्तेन भुंजिथः' अर्थात भोग करो, किंतु उसके मूल में त्याग की भावना भी होनी चाहिए। अब पश्चिमी जीवन संस्कृति के प्रभाव से भारतीय जीवन में केवल भोग का वर्चस्व ही बढ़ता जा रहा है। एक ऐसी संस्कृति का फैलाव बढ़ रहा है, जो करुणा–संवेदना और विचारबोध को जन्म ही न होने दे। ऐसे में यदि गरीबी का अभिशाप शबनम जैसी लड़कियों को सरोगेसी के व्यवसाय में डाल दे या निम्नवर्ग की लड़कियाँ भौतिक समृद्धि पाने की होड़ में इस पेशे में आने को विवश होती हैं तो क्या आश्चर्य!

ऐसे अमानवीय बर्बर काल में हमारे साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों, चिंतकों को सक्रिय होकर एक सभ्य समाज की संरक्षा में आगे आना होगा और जनसंस्कृति की धार को तेज करना होगा। भौतिक विकास से हमें परहेज नहीं है; लेकिन विचार, संवेदना और मूल्यों से रहित समाज में धन का प्रभुत्व अंततः ऐसे बर्बर समाज का ही निर्माण करता है, जहाँ मुट्ठी भर लोगों की समृद्धि ही कोटि–कोटि लोगों की मानसिक दासता पर फलती–फूलती है! ग्लोबल गाँव के इस अनैतिक एवं अमानवीय बाजार–विस्तार को रोकना होगा। आखिर हम कैसे समाज में रहने को अभिशप्त हो रहे हैं, जहाँ बाल व्यापार, कोख व्यापार, भावनाओं का व्यापार आदि का प्रभुत्व बढ़ने लगे हैं और कला, चिंतन, सृजन आदि सबको कुंद किया जा रहा है! रचनाकारों को अपनी रचनाशीलता से ग्लोबल बाजार संस्कृति के प्रतिरोध में ऐसा परिवेश निर्मित करना होगा, जिनसे मूल्यधर्मी जीवन–संस्कृति की जनचेतना विकसित हो सके। क्या मनुष्यता की रक्षा और एक बेहतर समाज के निर्माण में हमारे रचनाकार इस दायित्व का वहन नहीं करना चाहेंगे!

■

साहित्य–चिंतन

'मधुशाला' में व्यक्त 'जीवन दर्शन और प्रतीक विधान'

प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' *

एक कवि जिसने बताया कि 'दुनिया' के अंदर भी एक 'दुनिया' है। हरिवंशराय श्रीवास्तव यानी हरिवंशराय बच्चन, हिंदी काव्य–संसार के लोकप्रिय नामों में से विशेष। हिंदी की सबसे लोकप्रिय रचना 'मधुशाला' के रचयिता। एक अलग पहचान के कवि, ऐसे न जाने कितने 'यानी' हरिवंशराय बच्चन के नाम के साथ लगते जाएंगे, लेकिन उनकी शख्सियत के विशेषण कम नहीं होंगे। अविधा में कहें तो हरिवंशराय बच्चन हिंदी के सबसे सदाबहार कालजयी कविता के कवियों में मेरी नजर में पहली कतार के कवि हैं। यह लोकप्रियता सतही या सस्ती लोकप्रियता नहीं है। यह दार्शनिक गांभीर्य से ओत–प्रोत है। निश्चित वे समकालीन पंत, निराला, महादेवी के साथ युग सापेक्ष काव्य अपेक्षाओं के अपवाद नहीं हैं परंतु जो है, वैसा कोई नहीं है।

हिंदी काव्य संसार में खघसकर भारतीय कविता में जो निराशा और शिथिलता का उदासी भरा वातावरण निर्मित हो गया था, उसे हरिवंशराय बच्चन की मधुशाला ने तोड़ दिया। मातम को उत्सव में बदल दिया। वैराग्य को अनुराग बना दिया। हर काव्य प्रेमी के दिल में उतर जाए, जवान पर चढ़ जाए कविता ऐसी होती है। खय्याम की रुबाइयों का अनुवाद करते–करते बच्चन जी दरबारी काव्य परम्परा से बाहर निकले और दूसरी परंपरा में उतर गए। पाठकों, श्रोताओं की जो नब्ज बच्चन ने पकड़ी और जो खाली जगह दर्शन, नयी सोच और नए काव्य चिंतन द्वारा भरी, आधी सदी से अधिक समय तक उसके निरालेपन का डंका बजता रहा। मैं समझता हूँ कि 'मधुशाला' अपने असर का सफर कम से कम दशक भर तो यथावत रखेगी ही।

इधर देश में लोकतांत्रिक वातावरण बनने लगा था। स्वतंत्रता का नया–नया आगमन राजशाही की चाटुकारिता करती कविता स्वयं भी आजाद हुई। निमित्त बने हरिवंशराय बच्चन जैसे कवि, जिसने साहित्येत्तर अनुशासनों में भी जगह बनायी। पाठकों से क्षमा चाहते हुए कहना चाहूँगा कि व्यक्तिगत रूप में मधुशाला का मेरे ऊपर बड़ा ऋण है। वह बचपन से मेरी उँगली पकड़कर, हाथ मिलाकर यहाँ तक लाई। हालाँकि इससे परिचय कराया अकवि चिकित्साधिकारी मौसेरे

* **संपर्क** – पूर्व विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल – sheorajsinghbechain@gmail.com

भाई डॉ. नत्थूलाल ने जिन्हें बच्चन जी को साक्षात सुनने का अवसर मिला था। जिन दिनों मैं हाईस्कूल परीक्षा की तैयारी कर रहा था और आउट ऑफ कोर्स पत्र–पत्रिकाएँ, पुस्तिकाएँ बहुत पढ़ता था। ऐसा देख उन दिनों डॉ. लाल ने मुझे पत्र लिखा कि, 'वायदा करो, जब तक हाईस्कूल बोर्ड परीक्षा पास नहीं कर लोगे, कोर्स से बाहर की किताबें नहीं पढ़ोगे।' जब हाईस्कूल का परिणाम आया, मैंने उन्हें जब उत्तीर्ण होने की सूचना दी तो उन्होंने मुझे चन्दौसी (मुरादाबाद) बुलाया और बतौर प्रोत्साहन पुरस्कार 'मधुशाला' भेंट की। उसके बाद भी 11–12वीं में मधुशाला का असर मेरे लेखन पर रहा।

'हाला'–'प्याला' और 'मधुशाला' की व्यंजना पर प्रतीकात्मकता द्विअर्थी होने के आरोप लगे। पीने वालों ने लक्षणा–व्यंजना को धता बता कर सीधे अविधार्थ लेकर 'शराबी' ब्यसन को प्रोत्साहित करने वाली कविता कह दिया। परंतु काव्य रसास्वादन करने वालों ने इसकी भाव–भंगिमा को समझते हुए युग चेतना की कविता भी कहा।

हरिवंशराय बच्चन हिन्दी कविता के उत्तर छायावद काल के प्रमुख कवियों में से एक हैं। कविवर बच्चन की कविता का आरंभ तीसरे दशक के मध्य 'मधु' अथवा मदिरा के इर्द–गिर्द हुआ। 'मधुशाला' से आरंभ होकर 'मधुबाला' और 'मधुकलश' एक–एक वर्ष के अंतराल से प्रकाशित हुए। बच्चन का पहला कविता संग्रह 'तेरा हार' 1929 में आया था लेकिन उन्हें व्यापक पहचान लोकप्रिय कविता संग्रह 'मधुशाला' से मिली। जीवन को लय देती, कर्म का पाठ पढ़ाती 'मधुशाला' एक अनुपम कविता संग्रह है, जो 1935 में पहली बार काव्य संसार से रू–ब–रू हुआ था, लेकिन आज इतने सालों बाद भी जब इसे पढ़ा जाता है तो यह आज भी एक नयी भाव व्यंजना के साथ नयी ताजगी को लेकर उपस्थित होती है। इस रचना ने अपने जमाने में कविता प्रेमियों को अपना दीवाना बना दिया था। 135 रुबाइयों की इस पुस्तक की खास बात यह भी है कि हर रुबाई का अंत 'मधुशाला' शब्द से होता है और हर टेक पर मधुशाला में एक अलग अर्थ प्रकट होता है। यह एक ऐसी काव्य कृति है जो हर पाठ योजना के समय अद्वितीय साहित्यिक अनुभव प्रदान करती प्रतीत होती है। यदि यह कहा जाय कि यह पुस्तक हिंदी साहित्य के अनमोल रत्नों में से एक है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। मधुशाला बच्चन की रचना–त्रय 'मधुबाला' और 'मधुकलश' का हिस्सा है जो 'उमर खय्याम की रुबाइयों' से प्रेरित है। खय्याम की रुबाइयों का हिंदी में अनुवाद बच्चन जी मधुशाला के प्रकाशन से पूर्व ही कर चुके थे। मधुशाला की रचना के कारण ही बच्चन जी को "हालावाद का पुरोधा" भी कहा गया है।

वह युग जब महात्मा गांधी मद्य निषेध का प्रचार कर रहे थे, बच्चन पर आरोप लगे थे कि वे मद्य प्रचारक हो गए हैं, मधुशाला के माध्यम से कवि ने स्वयं भी अपनी कविता में मदिरा से पुश्तैनी संबंध स्वीकार किया था –

"मैं कायस्थ कुलोद्भव मेरे, पुरखों ने इतना ढाला,
मेरे तन के लोहू में है, अस्सी प्रतिशत हाला,
पुश्तैनी अधिकार मुझे है, मदिरालय के आँगन परय
मेरे दादों–परदादों के, हाथ बिकी थी मधुशाला।"

इस स्वीकारोक्ति का मतलब यह नहीं था कि उन्होंने यह संबंध विच्छेद नहीं किया था, केवल व्यक्तिगत स्तर पर, अपितु, सार्वजनिक जीवन में भी वे दारूबाजी के समर्थक या प्रचारक नहीं थे। जिस नशे की वे बात करते हैं, उसके गहरे दार्शनिक अर्थ हैं। नशा तो व्यक्ति को पढ़ने का, रचने का, ज्ञान का, विज्ञान का, सुधार का हर प्रकार का हो सकता है– होता है। रिसर्च करने की धुन भी एक नशा ही होता है। बच्चन जी ने उन किसम–किसम के नशों के कविता में संकेत किए हैं।

कवि हर अमूर्त तत्त्व पर मूर्त का आरोप कर उसमें संवेदनशीलता का पुट देकर उसे नवीन भावभूमि पर स्थापित करता चलता है।

"मिट्टी का तन, मस्ती का मन, / क्षणभर जीवन– मेरा परिचय!"

बच्चन की ये पंक्तियाँ जीवन की नश्वरता का परिचय बहुत ही सहज रूप में दे देती हैं। इसी प्रकार बच्चन जब मधुशाला के पदों में अपने स्वर माधुर्य को छलकाते हैं तो यह केवल स्वर का ही जादू नहीं, बल्कि उसे भावों के चुम्बकीय गुणों से ओत–प्रोत कर देते हैं, जो पाठक के मन को इतनी गहराई से बांध लेती है कि वह संवेदना के स्तर पर एक जुड़ाव महसूस करने लगता है। यथा – "मेरे अधरों पर हो अन्तिम, वस्तु न तुलसी दल, प्याला, / मेरी जिह्वा पर हो अन्तिम, वस्तु न गंगाजल, हाला, / मेरे शव के पीछे चलने– वालो, याद इसे रखना– / 'राम नाम है सत्य' न कहना, कहना 'सच्ची मधुशाला'।

मेरे शव पर वह रोए, हो, जिसके आँसू में हाला, / आह भरे वह, जो हो सुरभित, मदिरा पीकर मतवाला, / दें मुझको वे कंधा जिनके, पद मद–डगमग होते हों / और जलूँ उस ठौर, जहाँ पर, कभी रही हो मधुशाला।"

बच्चन जी ने जब अपनी 'मधुशाला' से भाव और विचारों की 'हाला' छलकायी तो पीने वाले मदहोश हो गए। ऐसी 'हाला' कि जितना चखो, नशा और. .. और बढ़े... बढ़ता ही जाए। तब बच्चन जी की जमीन को लेकर तमाम कवियों ने अपनी 'मधुशाला' रच दी। यह अलग बात है कि बच्चन जी की वह जमीन भी उमर खय्याम से 'ईंट–गारा' लिए हुए थी, किंतु 'नक्शा' अपना था, उसकी 'भव्यता' और कथ्यगत ऊंचाइयाँ मौलिक थीं[3] बिलकुल अनछुई और जिसे पहली बार छुआ तो सिर्फ हरिवंशराय बच्चन जी ने।

"स्वयं नहीं पीता, औरों को, किन्तु पिला देता हाला, / स्वयं नहीं छूता, औरों को, पर पकड़ा देता प्याला, / पर उपदेश कुशल बहुतेरों, से मैंने यह सीखा है, / स्वयं नहीं जाता, औरों को, पहुँचा देता मधुशाला।"

अंततः हरिवंशराय बच्चन अपने काव्य संग्रह 'मधुशाला' के परिशिष्ट में उन लोगों की जिज्ञासा का जवाब देते हैं जो यह मानते हैं कि वो भी मदिरा प्रेमी हैं। यह पंक्तियाँ एक कवि के रूप में उनके तेवर को बखूबी दर्शाती है। बच्चन जी ने जिस दौर में कविता लिखना शुरू किया था, वह छायावादी कविता का युग था। इस दौर की कविताएँ अतिशय सुकुमार्य और माधुर्य से परिपूर्ण थी। इन कविताओं की अतीन्द्रिय और अति वैयक्तिक सूक्ष्मता से और इसकी लक्षणात्मक अभिव्यंजनात्मक शैली से हरिवंशराय बच्चन उकता गए थे।

मधुशाला बीसवीं सदी की शुरुआत के हिंदी साहित्य की अत्यंत महत्त्वपूर्ण

रचना है, जिसमें सूफीवाद का दर्शन होता है। हरिवंशराय बच्चन ने मधु, मदिरा, हाला (शराब), साकी (शराब परोसने वाली), प्याला (कप या ग्लास), मधुशाला और मदिरालय की मदद से जीवन की जटिलताओं के विश्लेषण का प्रयास किया है। बाद के दिनों में मधुशाला इतनी मशहूर हो गई कि जगह–जगह इसे नृत्य–नाटिका के रूप में प्रस्तुत किया गया और मशहूर नृत्यकों ने इसे प्रस्तुत किया। मधुशाला की चुनिंदा रूबाइयों को मन्ना डे ने एलबम के रूप में प्रस्तुत किया। मधुशाला जब पहली बार प्रकाशित हुई तो शराब की प्रशंसा के लिए कई लोगों ने उनकी आलोचना की। बच्चन की आत्मकथा के अनुसार, महात्मा गांधी ने मधुशाला का पाठ सुन कर कहा, मधुशाला की आलोचना ठीक नहीं है।

महाकवि सुमित्रानंदन पंत ने कहा था – "मधुशाला की मादकता अक्षय है। 'मधुशाला' में हाला, प्याला, मधुबाला और मधुशाला के चार प्रतीकों के माध्यम से कवि ने अनेक क्रांतिकारी, मर्मस्पर्शी, रागात्मक एवं रहस्यपूर्ण भावों को वाणी दी है।" मधुशाला में भाषाई सुंदरता तो है ही, साथ ही जीवन दर्शन भी कूट–कूट कर भरा है – जो आज भी उतना ही प्रासंगिक है। 'मधुशाला' सिर्फ शराब–सौंदर्य की बातें नहीं करती बल्कि यह जीवन, सौंदर्य, उसकी सार्थकता और उसकी जीवंतता व नश्वरता के बारे में भी बताती है। हरिवंशराय बच्चन ने बड़े धैर्य और सच्चाई के साथ सीधी–सादी भाषा और शैली में सहज कल्पनाशीलता और जीवंत बिंबों से सजाकर सँवारकर हिंदी को अनूठे गीत दिये। इसमें एक–एक शब्द नाप तौलकर प्रयोग किया गया और वो भी इतने इत्मीनान से कि बस, सुनने वाला सुनता ही रह जाता है, चाहे वह पीने वाला हो या न भी हो, हाँ बस कविता की थोड़ी सी समझ होना जरूरी है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने चिंतामणि में प्रतीकों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'किसी देवता का प्रतीक सामने आने पर जिस प्रकार उसके स्वरूप और उसकी विभूति की भावना मन में आ जाती है उसी प्रकार काव्य में आई हुई कुछ वस्तुएं विशेष मानवाधिकारों या भावनाओं को जागृत कर देती हैं।' सुमित्रानंदन पंत की वाणी में भी कहा गया है कि "प्रतीक अभिव्यक्त को व्यक्त करने का माध्यम है।" हरिवंशराय बच्चन के काव्य में मानव जीवन के विभिन्न आयामों का गुलदस्ता है। मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश, निशा निमंत्रण, एकांत संगीत, बंगाल का अकाल आदि रचनाओं में वह हालावाद से चलकर सामाजिक समरसता के मार्ग से होते हुए आध्यात्म के उच्च शिखर पर पहुंचे हैं। प्रतीकों के माध्यम से वह भौतिक से आध्यात्म का रास्ता बना पाए हैं और इसी वजह से बच्चन जी की मधुशाला को सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। उन्होंने प्रतीकों का प्रयोग एक ऐसे विषय के लिए किया जिस विषय को लोग लिखते हुए कतराते थे, या उसका जिक्र समाज को कबूल नहीं था। 'मधुशाला' जिसका अभिधार्थ मदिरा की दुकान है, लेकिन बच्चन ने इसका प्रयोग अनेक प्रतीकों में किया है – "हंस मत्त होते पी–पीकर, / मानसरोवर मधुशाला।"

यहाँ हंस जीव का प्रतीक है और मधुशाला मानसरोवर का।

"सौ सुधारकों का करती है, / काम अकेली मधुशाला।"

यहाँ मधुशाला सुधारक के प्रतीकात्मक स्वरूप में प्रयोग किया गया है।

"कितने अरमानों की बनकर, / कब्र खड़ी है मधुशाला।"

यहाँ अरमानों एवं अनेक प्रबल इच्छाओं को कब्र के प्रतीक के रूप में मधुशाला का प्रयोग हुआ है।

"काल प्रबल है यह पीनेवाला / संसृति है यह मधुशाला।"

यहाँ मधुशाला संस्कृति का प्रतीक है।

'बच्चन' की मधुशाला जितनी अभिधापरक नजर आती है उतनी ही इसमें व्यंजना भी लक्षित होती है। यदि इसे इसकी भूमिका के बिना पढ़ा जाए तो सामान्य पाठक इसके अभिधात्मक अर्थ में खो जाता है और इसमें मौजूद अन्यार्थ से वंचित रह जाता है। मधुशाला में रूपक, मानवीकरण, अन्योक्ति जैसे अलंकारों कि यथासंगत भरमार है।

बच्चन ने मधुशाला की पहली ही रूबाई में रहस्यवाद की ओर संकेत किया है। मृदु भावों रूपी हाला को सर्वप्रथम ईश्वर रूपी प्रियतम को अर्पित करते हुए नजर आते हैं और तत्पश्चात् उसके अन्य जन तक पहुंचने की बात करते हैं।

मृदु भावों के अंगूरों की, आज बना लाया हाला, / प्रियतम, अपने ही हाथों से, आज पिलाऊँगा प्याला, / पहले भोग लगा लूँ तुझको, फिर प्रसाद जग पाएगा, / सबसे पहले तेरा स्वागत, करती मेरी मधुशाला।

बच्चन 'मधुशाला' को अंतिम मार्ग या इष्ट मानते हुए कहते हैं, 'व्यक्ति जब भक्ति मार्ग पर चलना शुरू करता है तब उसे पथ ज्ञात नहीं होता और विभिन्न पथ देखकर वह उलझ जाता है। सांसारिक लोग उसके असमंजस और उलझन को बढ़ाने का काम करते हैं। ऐसे में अपने मंतव्य तक पहुंचने के लिए उसे बस एक ही राह पकड़ लेने की जरूरत है। एक राह उसे इष्ट तक ले जा सकती है। रूहानियत की शराब का इच्छुक व्यक्ति सोचता है कि मैं कैसे अपने इष्ट को पाऊँ जो मेरी जनम–जनम की प्यास बुझाकर अपने नशे में सराबोर कर दे। दुनिया में अनेकों पंथ हैं किन्तु यह शराब एकाग्र अकेलेपन की राह पकड़कर साकी (ईश्वर) का ध्यान करने से ही मिलेगी।

मदिरालय जाने को घर से, चलता है पीनेवाला, / 'किस पथ से जाऊँ?' असमंजस, में है वह भोलाभालाय / अलग–अलग पथ बतलाते सब, पर मैं यह बतलाता हूँ[3] / 'राह पकड़ तू एक चला चल, पा जाएगा मधुशाला।'

हरिवंशराय बच्चन ईश्वर भक्ति के रास्ते में मौजूद विभिन्न बाह्याडंबरों की निस्सारता को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि ईश्वर सिर्फ उस भक्त को मिल सकता है जो धर्मग्रंथों से ऊपर उठ चुका हो, ईश्वर आराधना के विभिन्न स्थानों के छद्म को जो समझ चुका हो तथा ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बताने वाले पंडितों, मोमिनों और पादरियों के बनाए जालों से जो मुक्त हो चुका हो क्योंकि ऐसा ही भक्त किसी भी आडंबर के बिना ईश्वर प्राप्ति की सच्ची कोशिश करता है। इस रूहानी मधुशाला में उनका ही स्वागत है जो मन्दिर, मस्जिद और धर्म के झगड़ों के फंदों को काट चुके हैं क्योंकि ईश्वर एक है और इन चीजों से परे है। जो कण–कण में ईश्वर को देखने की इच्छा रखते हैं, इन बाहरी तत्त्वों, धार्मिक स्थानों व लोगों को जो महत्त्व नहीं देते, उनका उस मधुशाला में स्वागत होता है।

धर्म–ग्रंथ सब जला चुकी है, जिसके अंतर की ज्वाला,/मंदिर, मस्जिद, गिरिजे–सबको, तोड़ चुका जो मतवाला,/पंडित, मोमिन, पादिरयों के, फंदों को जो काट चुका,/कर सकती है आज उसी का, स्वागत मेरी मधुशाला।

बच्चन के अनुसार हिन्दू और मुसलमान दो कौम हैं मगर ईश्वर एक है। जब तक ये दोनों ही कौम अपनी अलगदृअलग पूजादृपद्धतियों के अनुसार कार्य करती हैं तब तक ये आपस में लड़ती रहती हैं किंतु जब ये बाहरी आवरणों, आडंबरों से मुक्त होकर ईश्वर प्राप्त करने की कोशिश करती हैं तब इनके बीच के बैर समाप्त होकर इनमें मनुष्य और मनुष्य की समानता नजर आने लगती है।

मुसलमान और हिन्दू हैं दो, एक, मगर, उनका प्याला,/एक, मगर, उनका मदिरालय, एक, मगर, उनकी हालाय/दोनों रहते एक न जब तक, मस्जिद–मन्दिर में जाते,/वैर बढ़ाते मस्जिद–मन्दिर, मेल कराती मधुशाला!

निष्कर्ष

हरिवंशराय 'बच्चन' की कालजयी काव्य–रचना श्मधुशालाश 1935 से लगातार प्रकाशित होती आ रही है। सूफियाना रंगत की 135 रुबाइयों से गूँथी गईं इस कविता की हर रुबाई का अंत 'मधुशाला' शब्द से होता है। पिछले आठ दशकों से पीढ़ी–दर–पीढ़ी पाठक इसे गाते–गुनगुनाते आ रहे हैं। यह एक ऐसी कविता है, जिसमें हमारे आस–पास का जीवन–संगीत भरपूर आध्यात्मिक ऊँचाइयों से गूँजता प्रतीत होता है। अब तक मधुशाला का लाखों लोग रसपान कर चुके हैं और भविष्य में भी करते रहेंगे। यह 'कविता का प्याला' कभी खाली होने वाला नहीं है, जैसा बच्चन जी ने स्वयं लिखा है[३]

भावुकता अंगूर लता से, खींच कल्पना की हाला,/कवि साकी बनकर आया है, भरकर कविता का प्याला/कभी न कण भर खाली होगा, लाख पिएँ, दो लाख पिएँ!/पाठक गण हैं पीनेवाले, पुस्तक मेरी मधुशाला।

दरअसल बच्चन जी का काव्य स्वतः स्फूर्त और नितांत वैयक्तिक है। उन्होंने जीवन की सारी नीरसताओं को स्वीकार करते हुए भी उससे मुँह नहीं मोड़ा है, बल्कि अपनी काव्य साधना के माध्यम से प्रयास किया है कि वे इसी नीरसता में सरसता की खोज कर लें। उनका मानना था कि एक मनुष्य के नीरस जीवन मे भी कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं जो उसे आनंद का अनुभव कराते हैं। अपने काव्य में वे इन्हीं तत्त्वों को खोजते भी हैं और इसी कारण उनकी मधुशाला हिंदी साहित्य की आत्मा का भी अंग बन गई और कालजयी रचनाओं की श्रेणी में सबसे आगे आ खड़ी हुई है।

मधुशाला जीवन के रस की शाला है जो यह पाठ पढ़ाती है कि, 'जीवन का रस मधु ही नहीं कटु भी होता है और इसका अनुभव भावाकुल मन ही कर सकता है। मधुशाला में यही भावनात्मक मदिरा विद्यमान है। बच्चन की यह हाला सांसारिक हाला से नितांत अलग है। यह जगत की शीतल हाला नहीं, वरन् जीवन के जलते हुए प्याले में ज्वाला की हाला है। बच्चन की मधुशाला प्रेम, मस्ती और आनन्द से ओतप्रोत है। हालावाद की इस विलक्षण प्रवृति के अतिरिक्त उनके काव्य में आध्यात्मिकता की झलक भी स्थान–स्थान पर दिखती है। कहीं यह कर्मवाद के समर्थन में उतरती हुई दिखाई जान पड़ती है, तो कहीं नियतिवाद व

भाग्यवाद से गहरे तर्क–वितर्क करती हुई दिख पड़ती है। मधुशाला किसी विलासी व्यक्ति का आलाप नहीं, वरन् उसमें युगों से दबी हुई परन्तु अपराजित मानवता की ही शाब्दिक अभिव्यक्ति हुई है। मधुशाला वस्तुतः जीवन के पुनरावलोकन की प्रक्रिया है। मधुमास में जब प्रकृति हँस रही होती है तो उसमें कुछ पत्तों का टूटना छिपा होता है। इसी प्रकार वर्षाकाल मे भी कुछ स्थान ऐसे भी छूट जाते है जहाँ मेघ नहीं बरसते ठीक इसी प्रकार हास–परिहास के अवगुण्ठन में भी वेदना छिपी रहती है। जो इस वेदना को भुला, जीवन की हाला को पीकर मदमस्त होता रहता है, वही इस जीवन के जटिल पथ का धीर पथिक कहला पाने का अधिकारी होता है। यह विश्रांत पथिक अध्यात्म की छाँह में ही एक सुरूर एक ठहराव की प्राप्ति करता है। यह हाला चेतना की हाला है जिसकी आज इस नैराश्य प्रधान जीवन में अत्यन्त आवश्यकता है। यह उस संजीवनी बूटी की तरह है जिसका सेवन कर सुषुप्त जीवन माधुर्य जाग उठता है।

मैं जब किसी आलोचक या हिंदी काव्य के किसी मर्मज्ञ से प्रभावित नहीं था, 1977 में मधुशाला पढ़ रहा था। सम्पूर्ण काव्य संपदा एक तरफ और मधुशाला एक तरफ फिर भी न्याय तुला पर मधुशाला भारी पड़ती थी। परंतु जब मैं हिंदी के पंडितों के पांडित्य जाल में फँसता गया, तब मुझे महसूस होने लगा कि महाकवि हरिवंशराय बच्चन की इस अद्भुत कृति को सचेतन नजरंदाज किया जा रहा है, उपेक्षापूर्ण तर्क गढ़े जा रहे हैं। आखघ्रि क्यों? क्या आने वाले युगों में यह कृति काव्य कारवाँ का अगुवाई नहीं करेगी? करेगी, सौ फीसदी करेगी और तब कविता जी उठेगी, मरणासन्न है वह भी नहीं मरेगी। यह मेरा अटल विश्वास है।

संदर्भ

1. बेचैन, श्यौराज सिंह, मेरा बचपन मेरे कंधों पर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2009, पृ.सं.–411 एवं द्वितीय संस्करण 2013, पृ.सं.– 400–402

2. बेचैन, श्यौराज सिंह, जिंदगी को ढूँढते हुए, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2024, पृ.सं.– 57

3. बच्चन, हरिवंशराय, मधुशाला, राजपाल एंड संस प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं. –72

4. बच्चन, हरिवंशराय, मेरी श्रेष्ठ कविताएँ, राजपाल एंड संस प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं–47

5. बच्चन, हरिवंशराय, मधुशाला, राजपाल एंड संस प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं. –52

6. वही, पृ.सं.–71

7. https://abhivyakti.life/2021/11/23, नई दिल्ली, 6 जून 2024

8. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, चिंतामणि, भाग–2, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं. –118

9. बच्चन, हरिवंशराय, संपादक, पंत के सौ पत्र, हिन्दी साहित्य संसार, नई दिल्ली, पृ.सं.–41

10. बच्चन, हरिवंशराय, मधुशाला, राजपाल एंड संस प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं.–39

11. वही, पृ.सं. – 44,/12. वही, पृ.सं. – 54/13. वही, पृ.सं. – 49

14. वही, पृ.सं. – 25/15. वही, पृ.सं.– 27/16. वही, पृ.सं. – 30

17. वही, पृ.सं. – 41/18. वही, पृ.सं. – 26

■

साहित्य–चिंतन

रामधारी सिंह 'दिनकर' की बाल कविता

मनजीत कुमार सिंह*

दिनकर हिन्दी साहित्य के उन महान कवियों में से एक हैं जिन्होंने अपनी कविता से सभी आयुवर्ग के पाठकों को अपनी ओर आकर्षित किया। उनकी मुख्य धारा की कविता जितनी प्रभावी व उद्देश्यपरक है, उतनी ही बाल कविता भी। 'मिर्च का मजा' (1947 ई.) और 'सूरज का ब्याह' (1955 ई.) जैसे बालोपयोगी कविताओं के संग्रहों ने हिन्दी बाल–साहित्य को काफी सम द्ध किया है। उनकी 'चाँद का कुर्ता' जैसी बाल–कविता आज भी पाठकों को उतना ही प्रभावित करती है, जितना अपने आरंभिक दिनों में करती थी। उन्होंने जिस प्रकार बच्चों को मार्गदर्शित करने वाली बाल–कविता की रचना की है वह काफी प्रशंसनीय है। उन्होंने केवल मनोरंजन को अपना ध्येय न बनाते हुए, बच्चों को आदर्श शिक्षा देने के लिए कई कविताएँ लिखी हैं। ये कविताएँ उनके कविरूप को विस्तारित करते हुए उनके कविकर्म में उदात्तता प्रदान करती हैं।

मुख्य शब्द

बालक, बाल–साहित्य, बालोपयोगी कविता, उपदेश, सीख, मनोरंजन, नैतिकता, भाषा, बुद्धिमत्ता, उद्देश्य आदि।

बाल–कविता बाल–साहित्य का हिस्सा है। बाल–साहित्य का तात्पर्य वैसे साहित्य से है जो बच्चों के लिए रचित है। अर्थात् जिस साहित्य का उद्देश्य बाल–मन को प्रभावित करना है वह बाल–साहित्य कहलाता है। भारतीय साहित्य में बाल–साहित्य का अनुपम उदाहरण विष्णुशर्मा रचित 'पंचतंत्र' है। 'पंचतंत्र' का आज भी प्रासंगिक होना बताता है कि बाल–साहित्य की उपादेयता बहुत अधिक है। हिन्दी साहित्य में भी समय–समय पर बाल–साहित्य रचे जाते रहे हैं। हिन्दी के आरंभिक साहित्यकारों में से एक अमीर खुसरो द्वारा रचित पहेलियों को हम इस दृष्टि से देख सकते हैं। जिस प्रकार साहित्य में काव्य (पद्य) का अपना विशेष स्थान व महत्त्व है, ठीक उसी प्रकार बाल–साहित्य में बाल–काव्य (बाल कविता) काफी महत्त्वपूर्ण है। समझने के लिए कह सकते हैं कि साहित्य अगर मनुष्य के

* **संपर्क** – सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, तिलकामाँझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर। चलभाष– 9810602327, ईमेल : prakashmanu334@gmail.com

मनःस्तर के लिए दवाई (मेडीसीन) के समान है तो बाल–साहित्य टीका (वैक्सिन)। जैसे दवाई बीमारी में काम आती है, लेकिन टीका बीमारी आने नहीं देने के लिए प्रयुक्त होता है; वैसे ही सामान्य साहित्य मनुष्य के मन के भाव व विकार के लिए कारगर है तो बच्चों के लिए लिखा गया साहित्य (बाल–साहित्य) बच्चों के मनोभावों पर विकार आने से पहले ही उसे बचाने के लिए प्रयुक्त टीका के समान है। बच्चों के मन पर साहित्य की अमिट छाप समाज को पुष्पित और पल्लवित होने का अवसर देती है। बच्चों में समाज का भविष्य छुपा होता है। ऐसे में बच्चों को साहित्यिक दृष्टि से संपुष्ट करना साहित्यकार की बड़ी जिम्मेदारी बनती है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' हिन्दी साहित्य–जगत में निश्चय ही एक दैदिप्यमान सूर्य की भाँति विद्यमान हैं। उनकी रचना उन्हें राष्ट्रकवि बनाती है, तो उनकी बाल–कविता उन्हें पूर्ण कवि बनाती है। कोई कवि जबतक बाल–कविता की रचना नहीं कर लेता, तबतक वह कविकर्म में परिपूर्ण नहीं माना जाना चाहिए; क्योंकि बाल–वर्ग का छूट जाना एक समूह विशेष का छूट जाना होता है। बच्चे समाज के भविष्य होते हैं। वे समाज के निर्माण में बीज का काम करते हैं। बीज जितना स्वस्थ होगा, वृक्ष उतना ही मजबूत व फलदायी होगा। बच्चों पर काम करना समाज के निर्माण में अपना प्रत्यक्ष योगदान देने के समान है।

शायद यही वजह रही कि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने पूरे मनोयोग से बाल–कविताएँ लिखीं। परिमाण (संख्या) की मात्रा में भले वह कम हो परन्तु परिणाम (प्रभाव) की मात्रा में कहीं से ये कम नहीं हैं। दिनकर की बालोपयोगी व किशोरोपयोगी कविताओं को 'दिनकर रचनावली' में संकलित करते हुए आलोचक नंदकिशोर नवल ने लिखा है – ''दिनकर जी की किशोरोपयोगी और बालोपयोगी कविताएँ दी गई हैं, जो इस बात की सूचक हैं कि कवि भावी पीढ़ी के प्रति भी अपने दायित्व को समझता था। वह जानता था कि अभी उसे कविता का रस और आनन्द अनुभव नहीं कराया गया, तो उसका सांस्कृतिक विकास कदापि अपेक्षित रूप में न हो सकेगा।''[1] दिनकर जी की बाल कविताओं पर शोधपरक दृष्टि डालने के क्रम में बहुत सी कविताओं से रू–ब–रू होने का अवसर मिला। वैसे विकिपीडिया की मानें तो दिनकर की बाल–कविताओं का संग्रह 'मिर्च का मजा' का प्रकाशन 1951 ई. में और 'सूरज का ब्याह' का प्रकाशन 1955 ई. में हुआ। नंदकिशोर नवल और तरुण कुमार द्वारा संपादित 'दिनकर रचनावली' के दूसरे खंड में स्फुट काव्य : प्रेम और श्रृंगार /अन्यान्य विषय की कविताओं को संकलित किया गया है। इसमें 'मिर्च का मजा' के अन्तर्गत सात कविताओं – 'मिर्च का मजा', 'पढ़क्कू की सूझ', 'चूहे की दिल्ली यात्रा', 'अंगद–कुदान', 'कर्र करो या कुर्र काला–काला एक न छोड़ूँगा', 'मामा के लिए आम' और 'झब्बू का परलोक–सुधार' शामिल हैं। वहीं 'सूरज का ब्याह' कविता–संग्रह के अन्तर्गत नौ कविताओं– 'सूरज का ब्याह', 'मेमना और भेड़िया', 'चाँद का कुर्ता', 'खरहा और कुत्ता', 'ज्योतिषी तारे गिनता था', 'चील का बच्चा', चतुर सूअर', 'बर्र और बालक' एवं

'बालक हम्मीर' शामिल हैं। हालाँकि 'दिनकर रचनावली' के इस दूसरे खंड में किशोरोपयोगी कविता कहकर और भी सात कविताएँ पहले संकलित की गई हैं जो कि मूलतः दिनकर की 1947 ई. में प्रकाशित काव्य–संग्रह 'धूप छाँह' से ली गई हैं। ये सात किशोरोपयोगी कविताएँ हैं – 'शक्ति और सौंदर्य', 'बल या विवेक', 'कवि का मित्र', 'कैंची और तलवार', भारतेन्दु–स्मृति', 'पुस्तकालय' तथा 'कलम और तलवार'। इन किशोरोपयोगी कविताओं के शीर्षक से स्पष्ट है कि बच्चों की तुलना में किशोर के काव्य में बोध अधिक मुखर रूप से आया है। बच्चों के लिए जैसे किन्हीं बातों को मनोरंजक ढंग से कहने की मजबूरी रहती है वहीं किशोरों को उन्हीं बातों को कहने में अपेक्षाकृत यह मजबूरी कम दिखती है।

दिनकर जी युवा पीढ़ी को बहुत उम्मीद भरी दृष्टि से देखते रहे। उनसे एक साक्षात्कार में किसी पाठक ने प्रश्न किया था कि क्या आज के युवकों में वक्त की धारा बदलने की शक्ति रह गई है? इसके उत्तर में दिनकर जी ने जो कहा था वह उनकी उस दृष्टि का परिचय देती है, जिससे हम कह सकते हैं कि उन्हें उम्मीद भरी नजरों से वे देखते और समझते रहे। उन्होंने कहा था – "आप इस शंका से पीड़ित दीखते हैं कि इस पीढ़ी के युवक अज्ञानी और भ्रान्त हैं। आप उन्हें क्यों नहीं देखते जो इस पीढ़ी से निकलकर सेना में काम कर रहे हैं, साहित्य में काम कर रहे हैं, राजनीति पर अधिकार जमा रहे हैं और देश का शासन चला रहे हैं! क्या ये लक्षण विपन्न और भ्रान्त पीढ़ी के हैं?"[2] इससे यह भी साफ पता चलता है कि दिनकर बेवजह की कुंठा पालने वाले कवि नहीं थे। यही वजह रही कि उन्होंने अपनी बाल कविताओं में बच्चों को लेकर चिंता जाहिर करने के बजाय उसके साथ घुल–मिलकर उसकी चेतना को विकसित करने वाली कविता लिखते रहे।

उद्देश्य

दिनकर की बाल–कविता लिखने के पीछे जिन उद्देश्यों को देखा जा सकता है, उनमें मुख्यतः बच्चों के चरित्र–निर्माण है। इसी के अन्तर्गत बुद्धिमत्ता, मनोरंजन, नैतिकता, पाखंड–विरोध, आत्मबल आदि पर जोर दिया है। इनमें उन्हें अपार सफलता भी मिली है। 'बालक हम्मीर' जैसी लम्बी बाल–कविता को पढ़कर बच्चों में जिस उर्जा का संचार होता है उससे बालक काफी उत्साहित महसूस करते हैं।

बुद्धिमत्ता : दिनकर की बाल कविताओं में बुद्धिमत्ता का पुट आसानी से मिल जाता है। शिक्षा के मुख्य उद्देश्यों में बुद्धिमत्ता का विशेष स्थान है। इस दिशा में 'सूरज का ब्याह', 'चाँद का कुर्ता', चतुर सूअर' आदि कविताओं का अवलोकन किया जा सकता है। 'सूरज का ब्याह' कविता में जब सूरज के ब्याह की खबर सुनकर जीव–जन्तु खुशी मनाने लगते हैं; वही एक वृद्ध मछली अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देते हुए जलचरों से बोलती है – "सावधान जलचरो, खुशी में सबके साथ नहीं फूलो, / ब्याह सूर्य का ठीक मगर, तुम इतनी बात नहीं भूलो / एक सूर्य के ही मारे हम विपद कौन कम सहते हैं, / गर्मी भर सारे जलवासी छटपट करते

रहते हैं।/अगर सूर्य ने ब्याह किया, दस–पाँच पुत्र जन्मायेगा,/सोचो, तब उतने सूर्यों का ताप कौन सह पायेगा?''[3] जिस प्रकार दिनकर ने विस्मयकारी अंदाज से सूरज के ब्याह के दूसरे पक्ष को उजागर करवाया है उससे बच्चों में सहजता से रस का संचार हो जाता है। वह वृद्ध मछली की सोच की तारीफ करते नहीं अघाता। निश्चय ही यह कविता बच्चों में बुद्धिमत्ता के महत्त्व को स्थापित करने में सफल हो जाती है। ऐसी ही बुद्धिमत्ता 'चाँद का कुर्ता' कविता में भी देखने को मिलती है, जब चाँद अपनी माता से कुर्ता सिलवा देने की हठ कर बैठता है, तो चाँद की माता जवाब में चाँद के रोज के घटने–बढ़ने के पक्ष को उजागर करती है और अंत में कहती है – ''अब तू ही तो बता, नाप तेरी किस रोज लिवायें।/सी दें एक झिंगोला जो हर रोज बदन में आयें।''[4]

इस तरह की सीख उनकी बाल कविताओं में सहज रूप से मिल जाती है। इससे बच्चे को बुद्धिमत्ता की प्रेरणा मिलती है।

नैतिकता : बाल–कविता या बाल–कहानी सीधे उपदेश देने से बचती है। कारण यह है कि बच्चों को सीधा उपदेश उबाऊ लगता है। इसी ऊब से बचाकर ज्ञान परोसने की जिम्मेदारी बाल–साहित्य के रचनाकारों की हो जाती है। ऐसे में नैतिकता जैसे जरूरी ज्ञान को परोसने में दिनकर जी ने भी काफी रोचक ढंग चुना है। उनकी कविताओं जैसे – 'चील का बच्चा', 'मामा के लिए आम' आदि में नैतिकता की प्रस्तुति देखी जा सकती है।

'चील का बच्चा' कविता में जब चील का बच्चा बीमार पड़ता है तो उसके लिए तरह–तरह से इलाज की व्यवस्था होती है। इसमें कौवा, कोयल, नीलकंठ, मैना, फुदकी, कठफोड़े आदि का प्रयास होता है, परन्तु वह ठीक नहीं होता। हताश होकर – ''तब बच्चे ने कहा, ''माँ! अब क्या होगा?/खोंते में अब कौन इलाज नया होगा?/अच्छा है, अब उड़ो, गाँव में जाओ तुम,/किसी देवता से आशिश ले आओ तुम।''[5] इसपर माँ उसे कहती है कि ऊधमी! तुम जो चोंच मारकर, चंगुल से ध्वजा फाड़ते फिरते हो, किसी की थाली का प्रसाद लेकर भाग जाते हो, किसी पिंडे का सम्मान नहीं रखा। अब मैं किसके पास जाऊँगी, अगर जाऊँगी तो उलाहना ही मिलेगी। इसलिए –''रूठे हैं देवता, न कोई चारा है,/ले ईश्वर का नाम कि वही सहारा है।''[6] यहाँ कवि ने यह समझाना अपना उद्देश्य बनाया कि नैतिक रहोगे तभी समय पर लोग काम आएँगे। अनैतिक कार्य करने वालों को पछताना पड़ता है।

यहाँ शास्त्र की बात का जिक्र बताता है कि दिनकर बच्चों को नीति की समझ देते हुए नैतिक बनाने की वकालत करते हैं।

पाखंड विरोध : दिनकर जी की बाल–कविता में पाखंड विरोध देखने को मिलता है। 'ज्योतिषी तारे गिनता था' कविता में बच्चों को यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि जो ज्योतिषी तारे गिनकर ग्रह–नक्षत्र की जानकारी जुटाता रहता था और इसी चक्कर में वह एक दिन एक कूएँ में जा गिरता है। इसपर –

''गाँव के जन दौरे आये, ज्योतिषी को ऊपर लाए। कहा फिर सबने अजी प्रणाम, नहीं फिर करना ऐसा काम।''[7] साफ दिखता है कि पाखंड से खुद पाखंडी का भी भला नहीं हो सकता।

मनोरंजन : दिनकर की सभी बाल कविताओं में मनोरंजन भरपूर है। 'पढ़क्कू की सूझ' कविता में जिस प्रकार का तार्किक मनोरंजन हुआ है वह आकर्षित करता है। कविता से मनोरंजन का संबंध अत्यंत प्रगाढ़ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कविता में मनोरंजन के महत्त्व को बताते हुए लिखते हैं – ''मनोरंजन वह शक्ति है जिससे कविता अपना प्रभाव जमाने के लिए मनु य की चित्तवृत्ति को स्थिर किये रहती है, इधर–उधर जाने नहीं देती।''[8] मनोरंजन के महत्त्व से इंकार नहीं किया जा सकता, परन्तु कविता का अन्तिम उद्देश्य – ''जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनु य–हृदय का सामंजस्य–स्थापन है। इतने गम्भीर उद्देश्य के स्थान पर केवल मनोरंजन का हल्का उद्देश्य सामने रखकर जो कविता का पठन–पाठन या विचार करते हैं, वे रास्ते में ही रह जाने वाले पथिक के समान हैं।''[9] बाल कविता में मनोरंजन का कुछ ज्यादा ही महत्त्व है, क्योंकि बच्चों की चित्तवृत्ति को स्थिर रखने के लिए ज्यादा प्रयास करने की आवश्यकता होती है। बावजूद इसके दिनकर जी ने इसका भी पूरा ध्यान रखा कि कविता सिर्फ मनोरंजन के लिए न लिखी जाए। परिणाम यह हुआ कि उनकी हर कविता मनोरंजन से इतर भी कई मुख्य उद्देश्य रखती है।

भाषिक विशेषता : दिनकर की कविता बच्चों के मनोभाव को प्रस्तुत करने में सफल है। इसके लिए उन्होंने भाषा के स्तर पर प्रयोग किये हैं। शब्दावली के चयन में पूरा ध्यान रखा गया है ताकि बच्चों को कविता समझने में आसानी हो, मनोरंजन में बाधा न हो। कुछ शब्दों के उदाहरण देखे जा सकते हैं – चवन्नी, सिसियाते, रिसियाते, सधाये, पागुर, किल्ली, पंघत, मुस्की, पिहकारी, गीदड़जी, सेर, पुरखों, खस, मौसिम, तारूँगा, तरकारी, जन्मायेगा, झमेला, बेघत, झापड़, कनपट्टी, अंगुल, भगे, सतभैया, नखत, पिंडे, गुहराऊँ, मचक, पजाते आदि। इन शब्दों के प्रयोग से उनकी बाल–कविता की भाषा सहज और सुग्राह्य बन पड़ी है। भाषा को लेकर उनकी अपनी धारणा रही है कि वे कृत्रिम भाषा से बचते रहे। उन्होंने साहित्य में जनता की भाषा को अपनाया है। एक साक्षात्कार में उन्होंने स्पष्ट कहा था – ''सेठ गोविन्ददास और राजाजी जिसे हिन्दी कहते हैं, वह मेरी हिन्दी नहीं है। मैं जनता की हिन्दी चाहता हूँ।''[10] इसीलिए दिनकर भाषा को जनता से जोड़ने के लिए सहज व मुहावरेदार भाषा का प्रयोग करने की कोशिश करते हैं। उनके द्वारा बाल–कविताओं में प्रयुक्त कुछ मुहावरें इस प्रकार हैं – मुँह में पानी आना, आँखों में जल भरना, आँखें दौड़ाना, हिम्मत दूनी करना, मजा चखाना, आग बरसना, मुँह मोड़ना, परलोक सुधारना आदि। ऐसे और भी मुहावरे हैं जिनका प्रयोग उन्होंने अपनी बाल–कविताओं में किया है।

दिनकर जी की बाल–कविता में मनोरंजन का ऐसा पुट है कि बच्चे तो बच्चे, वयस्क पाठक भी कौतुक से भर जाते हैं।

प्रासंगिकता : किसी साहित्य की प्रासंगिकता तय करने के विविध पैमाने रहे हैं। किसी समय के हिसाब से उसके कथ्य को प्रासंगिकता के लिए उचित माना है तो किसी ने उसकी उपादेयता को। इसी द्वन्द्व को समझते हुए तथा प्रासंगिकता पर मौलिक विचार प्रस्तुत करते हुए निर्मल वर्मा ने लिखा है – ''एक कलाकृति सिर्फ मनुष्य की भाषा का सघन, एकात्म, संकेन्द्रित 'इशारा' है, वह चाहे दुनिया के किसी कोने से उठता हो, यदि वह हमारे इस ढाँचे में हलचल उत्पन्न करता है, तो वह हमारे लिए तुरन्त और तात्कालिक रूप से प्रासंगिक हो जाता है।''[11] इस दशा में दिनकर जी की बाल कविताएँ अति प्रासंगिक कही जाएँगी। उनकी कविता पढ़कर मन का उद्वेलित होना आम बात है। यही बात है कि आज भी बच्चों के पाठ्यक्रम में इनकी बाल–कविता को शामिल किया जाता रहा है।

निष्कर्ष : रामधारी सिंह दिनकर ने बाल–कविताओं की रचना कर हिन्दी बाल–साहित्य को काफी समृद्ध किया है। उनकी बाल–कविता बाल–मन को सकारात्मक रूप से प्रभावित करती है और आकर्षित भी करती है। इस तरह कहा जा सकता है कि दिनकर की बाल कविताएँ उनके कवि–रूप को विस्तारित करते हुए उदात्तता प्रदान करती हैं।

संदर्भ सूची :

1. नवल, नंदकिशोर और तरुण कुमार (सं.). दिनकर रचनावली : खंड–2. प्रयागराज : लोकभारती प्रकाशन, 2021, पृ. 8.
2. नवल, नंदकिशोर और तरुण कुमार (सं.). दिनकर रचनावली : खंड–11. प्रयागराज : लोकभारती प्रकाशन, 2021, पृ. 498.
3. नवल, नंदकिशोर और तरुण कुमार (सं.). दिनकर रचनावली : खंड–2. प्रयागराज : लोकभारती प्रकाशन, 2021, पृ. 345.
4. वही, पृ. 347.
5. वही, पृ. 349–350.
6. वही, पृ. 350
7. वही, पृ. 349.
8. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र. चिन्तामणि–1. प्रयागराज : लोकभारती प्रकाशन, 2023. पृ. 94.
9. वही.
10. नवल, नंदकिशोर और तरुण कुमार (सं.). दिनकर रचनावली : खंड–11. प्रयागराज : लोकभारती प्रकाशन, 2021, पृ. 456.
11. वर्मा, निर्मल. कला का जोखिम. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2018, पृ. 65.

■

साहित्य–चिंतन

हिन्दी गजल का बहुआयामी अध्ययन

गरिमा सक्सेना *

हिन्दी गजल– यात्रा के विकास के कई दशक बीत चुके हैं। लगातार गजलें लिखी जा रही हैं या यूँ कहूँ हिन्दी गजल इस समय सर्वाधिक कही और पढ़ी जाने वाली विधा बन चुकी है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। लेकिन इस सबसे कहीं अधिक सुखद यह है कि हिन्दी गजल लेखन के साथ–साथ आलोचनाएँ भी खूब हो रही हैं। लम्बे समय से आलोचना की इस खाली जमीन को भरने का बीड़ा कई गजलकारों ने उठा लिया है। सामान्यतः हम देखते हैं कि हिन्दी गजल पर केन्द्रित अधिकांश आलोचनात्मक लेखन में गजलों की शिल्पगत संरचना, कथ्य–विन्यास, प्रतीक योजना, भाषा प्रयोग और छंदगत विशेषताओं को विवेचना का आधार बनाया जा रहा है। ऐसे परिदृश्य में अनिरुद्ध सिन्हा की पुस्तक 'हिन्दी गजल का परिसर और परिवेश' हिन्दी गजल–आलोचना में एक विशिष्ट और मौलिक हस्तक्षेप के रूप में सामने आती है। यह आलोचना–कृति केवल गजलों के पाठ व शाब्दिक अर्थमात्र का विश्लेषण नहीं करती, बल्कि उन रचनाकारों की सर्जनात्मक चेतना, वैचारिक प्रतिबद्धता, सामाजिक दृष्टि तथा रचना–प्रक्रिया को समझने का प्रयास करती है, जिनके अनुभवों और संघर्षों से गजल की दुनिया निर्मित होती है।

आलोच्य पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि इसका केन्द्र गजल नहीं, बल्कि गजलकार और उसका जीवन भी है। सिन्हा जी का आग्रह यह जानने में है कि किसी शेर की संवेदना किन जीवनानुभवों से जन्म लेती है, उसके भीतर उपस्थित प्रतिरोध किन सामाजिक परिस्थितियों से संचालित होता है और रचनाकार की वैचारिक दृष्टि किस प्रकार उसकी काव्य–संरचना को प्रभावित करती है। इस अर्थ में यह पुस्तक गजल के पाठ से आगे बढ़कर गजलकार के व्यक्तित्व और उसकी रचनात्मक यात्रा का अध्ययन प्रस्तुत करती है।

पुस्तक के आरम्भिक आलेखों में ही अनिरुद्ध सिन्हा हिन्दी गजल की

* **संपर्क** : मकान–212ए ब्लॉक,सेंचुरी सरस अपार्टमेंट,अनंतपुरा रोड, यलहंका, बैंगलोर–560064, चलभाष - 7694928448

स्वतंत्र पहचान का प्रश्न उठाते हैं। वे स्पष्ट संकेत देते हैं कि हिन्दी गजल को केवल उर्दू परम्परा का विस्तार मानकर नहीं समझा जा सकता। उनकी दृष्टि में हिन्दी गजल ने अपने समय, समाज और भाषिक परिवेश से एक स्वतंत्र रचनात्मक ऊर्जा अर्जित की है। इसी सन्दर्भ में उनका यह कथन उल्लेखनीय है कि "कविता अगर कला है तो छन्दशास्त्र को विज्ञान कहना चाहिए।" यह कथन केवल छन्द की उपयोगिता का समर्थन नहीं करता, बल्कि आधुनिक कविता में मुक्त छन्द के अतिरेक के बीच लय, संगीत और संरचना के महत्व को भी रेखांकित करता है। सिन्हा जी के अनुसार हिन्दी गजल ने आधुनिक कविता में उत्पन्न एक प्रकार की लयहीनता के बीच पुनः काव्यात्मक अनुशासन की प्रतिष्ठा की है।

अनिरुद्ध सिन्हा की आलोचना–दृष्टि का एक महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि वे किसी भी रचनाकार को केवल साहित्यिक कसौटी पर नहीं परखते, बल्कि उसके सामाजिक–सांस्कृतिक संदर्भों को भी साथ लेकर चलते हैं। सूर्यभानु गुप्त पर केन्द्रित उनका आलेख इसका उत्कृष्ट उदाहरण है, जहाँ सिन्हा जी सूर्यभानु गुप्त को केवल गीतकार या गजलकार के रूप में सीमित नहीं चाहते। वे उनकी बहुआयामी सर्जनात्मकता को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि "जिस किसी माध्यम से इन्हें कहने की सुविधा मिली, इन्होंने स्वीकार किया है।" यह कथन वस्तुतः रचनाकार की अभिव्यक्ति–स्वतंत्रता का उद्घोष है। यहाँ विधा गौण हो जाती है और सृजन का मूल आग्रह प्रमुख बन जाता है।

सूर्यभानु गुप्त की रचनाओं के माध्यम से सिन्हा जी ग्रामीण जीवन के विघटन, पलायन, बाजारवाद और बदलते सामाजिक संबंधों की भी पड़ताल करते हैं। "खंडहर हो गए गाँव, भूतों का वास हुआ" जैसी पंक्तियों की व्याख्या करते हुए वे 'भूतों का वास' को ग्रामीण जीवन के उजड़ते हुए सामुदायिक संसार का रूपक मानते हैं। यह वही आलोचना पद्धति है, जो अर्थ–व्याख्या से निकलकर सामाजिक यथार्थ के गहरे प्रश्नों से टकराती है। यहाँ आलोचक का सरोकार कविता के भीतर छिपे समाजशास्त्र से जुड़ जाता है।

पुस्तक का सबसे प्रभावशाली और केन्द्रीय आलेख निस्संदेह दुष्यन्त कुमार पर केन्द्रित है। हिन्दी गजल के इतिहास में दुष्यन्त कुमार को एक निर्णायक मोड़ के रूप में स्वीकार करते हुए सिन्हा जी लिखते हैं कि "दुष्यन्त कुमार ऐसे गजलकार हैं जिन्होंने जनवाद को गजल में अमर करने का काम किया।" हम इस कथन को हिन्दी गजल के इतिहास का एक आलोचनात्मक निष्कर्ष मान सकते हैं। वे आगे कहते हैं कि दुष्यन्त ने गजल को महबूब और मयखाने की सीमाओं से निकालकर जनता के दुःख–दर्द, राजनीतिक विडम्बनाओं और सामाजिक विसंगतियों से जोड़ा। वे यह भी मानते हैं कि दुष्यन्त की गजलें केवल काव्यात्मक अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि परिवर्तनकामी चेतना की वाहक हैं। उनकी दृष्टि में दुष्यन्त ने हिन्दी गजल को लोकतांत्रिक प्रतिरोध का स्वर प्रदान किया है।

यहीं सिन्हा जी दुष्यन्त की परम्परा के विस्तार और प्रभाव की भी चर्चा करते हैं। वे कहते हैं– "रामनाथ सिंह 'अदम गोंडवी' ने जहाँ उनके द्वारा संस्कारित गजलगोई–परंपरा को और अधिक जनवादी और धारदार बनाया है, वहीं रामदरश मिश्र ने उनके कुछ प्रतीक और मुहावरे तक ले लिए।" यह टिप्पणी केवल प्रभाव–संबंध की सूचना नहीं देती, बल्कि यह भी स्पष्ट करती है कि दुष्यन्त के बाद हिन्दी गजल में जनपक्षधरता की धारा किस प्रकार विकसित हुई और उसने विभिन्न रचनाकारों के यहाँ भिन्न–भिन्न रूप ग्रहण किए।

पुस्तक के अन्य आलेखों की बात करें तो ज्ञानप्रकाश विवेक, हरेराम समीप, माधव कौशिक, अशोक मिजाज, ओमप्रकाश यती, द्विजेन्द्र द्विज, विजय कुमार स्वर्णकार, कृष्ण कुमार प्रजापति तथा डॉ. भावना जैसे समकालीन गजलकारों पर केन्द्रित विश्लेषण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। महत्त्वपूर्ण इसलिए भी है क्योंकि सिन्हा प्रत्येक रचनाकार की अलग पहचान स्थापित करते हुए उनकी रचनात्मक विशिष्टताओं को रेखांकित करते हैं। वे किसी रचनाकार की अन्य रचनाकार से तुलना किए बिना, उसके परिसर, उसके परिवेश और उसके अस्तित्व की व्याख्या करते हैं।

ज्ञानप्रकाश विवेक के संदर्भ में सिन्हा जी की स्थापना विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है। वे लिखते हैं कि "इन्होंने विचार को न केवल प्रभविष्णुता के साथ बल्कि लोगों की मनःस्थिति और अपने पास की स्थितियों और परिस्थितियों को उनके समग्र 'सिमिलैरिटी' और 'कंट्रास्ट' में वर्णित और चित्रित किया है।" यह टिप्पणी विवेक की गजलों में उपस्थित वैचारिक गहराई, विश्लेषणात्मक दृष्टि और सामाजिक यथार्थ के बहुआयामी बोध को रेखांकित करती है।

अब हरेराम समीप के सन्दर्भ में उद्धृत यह शेर और उसकी व्याख्या देखें–"जिसके निर्मल पानी से हम दिन भर खेला करते थे, / उस नदिया को बस्ती भर की गंदगी लग गई।" सिन्हा जी इस शेर की व्याख्या करते हुए पर्यावरणीय संकट, मानवीय हस्तक्षेप और विकास की अंधी दौड़ के दुष्परिणामों की ओर संकेत करते हैं। वे कहते हैं कि यहाँ नदी केवल नदी नहीं रह गई है, बल्कि सभ्यता के प्रदूषित होते विवेक का प्रतीक बन गई है।

इसी प्रकार माधव कौशिक जी के यहाँ आधुनिक जीवन की विडम्बनाएँ, अशोक मिजाज के यहाँ वैचारिक गहराई तथा ज्ञानप्रकाश विवेक के यहाँ सामाजिक चेतना के विविध रूपों को सिन्हा जी सूक्ष्मता से पहचानते हैं।

माधव कौशिक के बारे में उनका मत है कि उनकी गजलों में कोई पूर्वाग्रह नहीं है, बल्कि अपने समय के ढेरों सवालों का अपने खास अंदाज में विश्लेषण है। वे आगे कहते हैं कि "माधव कौशिक की गजलों में समष्टिगत वेदना की अभिव्यक्ति अपनी आंतरिक लय के साथ देखने को मिलती है।" यह कथन उनके काव्य–संसार में व्यक्तिगत अनुभव और सामूहिक पीड़ा के अद्‌भुत संतुलन को

रेखांकित करता है।

डॉ. विनोद गुप्ता 'शलभ' पर विचार करते हुए सिन्हा लिखते हैं– "इनका भोगा हुआ यथार्थ थोड़ा कड़वा रहने के कारण कहीं–कहीं तनाव का आ जाना स्वाभाविक है। तथापि इन्होंने अपनी गजलों में समाज की विसंगतियों के प्रत्यक्ष प्रतिफलन को देखने की कोशिश तो की है लेकिन गजल की आत्मा को भी खंडित होने से बचाया है।" वे आगे स्पष्ट करते हैं कि शलभ अपने मस्तिष्क में जिस मूर्त रूप का निर्माण करते हैं, उसे संकेतात्मक बिंदुओं और शेरों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं, जिससे गजल की सहजता और कलात्मकता बनी रहती है।

ओमप्रकाश यती के संदर्भ में सिन्हा जी लिखते हैं कि "इनमें शहर से गाँव का एक तनाव भरा संबंध बार–बार सामने आता है। ओमप्रकाश यती के पास ग्रामीण अनुभव का संस्पर्श है, जिससे इनकी गजलें प्रखर और प्रभावशाली बनती हैं।" यह टिप्पणी यती की गजलों में उपस्थित ग्रामीण स्मृति और आधुनिक जीवन के द्वंद्व को समझने में सहायक है।

द्विजेन्द्र द्विज के विषय में उनका कथन देखें– "द्विजेन्द्र द्विज की गजलों को पढ़ते हुए लगता है कि उनके भीतर बहुत बड़ा गजलकार मौजूद है जो प्रेम के आँचल तले क्रूरता को जलाता है।" इस एक वाक्य में द्विज की संवेदनात्मक शक्ति, प्रेम–दृष्टि और मानवीय करुणा का संपूर्ण सार निहित है।

हिन्दी गजल की भाषा पर अपनी बात को विस्तार देते हुए सिन्हा जी विजय कुमार स्वर्णकार के माध्यम से कहते हैं कि "भाषायी संकीर्णता के घेरे में आने पर भी हिन्दी गजल की प्रासंगिकता नष्ट नहीं हुई, वरन् यह निरंतर विकासोन्मुख हो रही है। शब्दों की झिझक और विवशता टूट रही है।" वे आगे लिखते हैं कि विजय कुमार स्वर्णकार जैसे प्रतिबद्ध गजलकार इस दिशा में बेहतर कार्य और भाषायी पहल कर रहे हैं। उनकी गजलों से भाषा के सामूहिक संवेगों को अभिव्यक्ति मिली है। सिन्हा जी का यह निष्कर्ष उल्लेखनीय है कि हिन्दी में एक नए भाषायी युग का आरम्भ हो चुका है और गजल इस परिवर्तन की एक महत्त्वपूर्ण वाहक बनी हुई है।

कुमार प्रजापति जी के सम्बन्ध में भी उनकी दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म है। वे लिखते हैं "कुमार प्रजापति एक ओर जहाँ यातना और त्रासदियों के संदर्भ को जीवन–यथातथ्यता में एक कोमल निःस्पृह और लय की भाषा रखते हैं, वहीं जीवन के प्रति समर्पण, उसकी अच्छाई और स्मृतियों को बचाए रखने वाली युक्तियों का भी बखान करते हैं।" इस प्रकार वे कुमार प्रजापति को प्रतिरोध और स्मृति के गजलकार के रूप में स्थापित करते हैं।

इस आलोचना–ग्रंथ में एकमात्र महिला गजलकार के रूप में डॉ. भावना की चर्चा है। वे कहते हैं– "डॉ. भावना की सफलता इस दिशा में काफी निर्णायक और उत्साहवर्द्धक रही है। अपनी गजलों में न केवल वस्तु के नाते अपितु विषय

की नवीनता के नाते भी अपने समकालीनों के मुकाबले एक महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।" वे आगे लिखते हैं कि उनका बाह्य व्यक्तित्व जितना गंभीर, सम्मोहक और संस्कारशील हैं, उनका आंतरिक जीवन उतना ही गजलमय है। जीवन में संचित अनुभवों के समानान्तर उनकी गजलें पल्लवित और समृद्ध होती हैं। यही कारण है कि पाठक उनकी गजलों को विशेष महत्व की दृष्टि से देखते हैं।

पुस्तक का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि यह गजल को केवल प्रेम और रूमानी संवेदनाओं की विधा मानने की परम्परागत धारणा को चुनौती देती है। सिन्हा जी यह स्थापित करते हैं कि समकालीन हिन्दी गजल अब सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और पर्यावरणीय सरोकारों से गहरे स्तर पर जुड़ चुकी है। वह अब केवल भावुकता की विधा नहीं, बल्कि अपने समय का एक सशक्त सामाजिक दस्तावेज है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, पुस्तक की आलोचना–पद्धति पाठ–केंद्रित आलोचना से आगे बढ़कर व्यक्तित्व–केंद्रित तथा संदर्भ–केंद्रित आलोचना का मार्ग अपनाती है। वे रचनाकार के जीवनानुभवों, वैचारिक पृष्ठभूमि, सामाजिक स्थितियों और रचना–प्रक्रिया को एक साथ रखकर मूल्यांकन करते हैं। यही कारण है कि उनकी आलोचना केवल साहित्यिक समीक्षा न रहकर एक प्रकार का सांस्कृतिक अध्ययन बन जाती है।

विशेष रूप से उल्लेखनीय यह है कि पुस्तक में शामिल सभी गजलकारों के विश्लेषण के बावजूद सिन्हा जी की एक समेकित दृष्टि बनी रहती है। वे प्रत्येक रचनाकार को उसके समय और समाज के भीतर रखकर देखते हैं और यह स्थापित करते हैं कि हिन्दी गजल आज एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन का रूप ग्रहण कर चुकी है। यह आन्दोलन भाषा, समाज, राजनीति और मनुष्य की बदलती हुई नियति से गहरे स्तर पर जुड़ा हुआ है।

समग्रतः यह कहना उचित होगा कि 'हिन्दी गजल का परिसर और परिवेश' हिन्दी गजल की परम्परा, उसकी विकास–यात्रा, उसकी सामाजिक भूमिका तथा उसकी भविष्यगत संभावनाओं का एक गंभीर, प्रामाणिक और बहुआयामी अध्ययन है। पुस्तक केवल गजलों का मूल्यांकन नहीं करती, बल्कि उन रचनात्मक प्रक्रियाओं को भी समझने का प्रयास करती है जिनसे गजल जन्म लेती है। निस्संदेह यह पुस्तक शोधार्थियों, अध्येताओं, आलोचकों और गजल–प्रेमियों के लिए एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ–ग्रंथ है, जो हिन्दी गजल को उसके सम्पूर्ण सांस्कृतिक और वैचारिक परिप्रेक्ष्य में समझने की दिशा में सार्थक योगदान देता है।

■

साहित्य चिंतन

हिंदी व्यंग्य साहित्य में

ज्ञान चतुर्वेदी का योगदान

पूर्णिमा कुमारी *

ज्ञान चतुर्वेदी हिंदी व्यंग्य साहित्य के महत्वपूर्ण व्यंग्यकार हैं। हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रविंद्रनाथ त्यागी के बाद व्यंग्य को समृद्ध करने में उनका बहुत बड़ा योगदान है। वे सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक विसंगतियों पर सरल, स्पष्ट एवं तीक्ष्ण रूप से व्यंग्य बाण चलाते हैं। उन्होंने अपने व्यंग्य लेखन में हमारे आसपास की छोटी–छोटी और साधारण सी घटनाओं को स्थान देते हैं। हमारे जीवन की रोजमर्रा की घटनाओं को अपने व्यंग्य का विषय बनाते हैं। वे अपने व्यंग्य से समाज की कुरीतियों, विसंगतियों का पर्दाफाश कर गंभीर व्यंग्य करते हैं। वे अपने व्यंग्य द्वारा दाम्पत्य जीवन, प्रेम संबंध, बेरोजगारी, निम्नमध्यवर्गीय जीवन, स्त्री जीवन, देश की राजनीति, नेताओं की दल बदल नीति में व्याप्त विसंगतियों का यथार्थ चित्रण करते हैं।

ज्ञान चतुर्वेदी दाम्पत्य जीवन की विसंगतियों को उजागर करते हैं। दाम्पत्य जीवन का अर्थ पति–पत्नी के बीच प्रेम, विश्वास, समर्पण और आपसी सामंजस्य से युक्त अटूट संबंध है। यह एक पवित्र संबंध है जिसे गृहस्थ आश्रम या वैवाहिक जीवन कहा जाता है जहां दोनों एक दूसरे के पूरक बनकर जीवन के सुख–दुख को साझा करते हैं। लेकिन सबसे अधिक उथल पुथल भी दाम्पत्य जीवन में होता है। छोटी–छोटी बातों से समस्याएं बढ़ जाती है। पति पत्नी के मांगों को पूरा करने में व्यस्त रहता है फिर भी अगर कुछ भूल जाएं चाहें साबुन हो या साड़ी तो घर परिवार में कलह होना निश्चित है। लेखक बड़े सैमिनार के लिए बैंगलोरु जाते हैं और समय निकालकर साड़ी स्टोर में जाते हैं अपनी पत्नी के लिए साड़ी लेने। उन्हें सैमिनार से ज्यादा जरूरी और महत्वपूर्ण साड़ी खरीदना लगा। लेखक यह भी दिखाते हैं कि यह केवल उनकी स्थिति नहीं है बल्कि सैमिनार में आए सभी पुरुष की स्थिति एक जैसी है। लेखक ज्ञान चतुर्वेदी अपने व्यंग्य निबंध 'शांति की तलाश में साड़ी स्टोर की तरफ' में लिखते हैं कि 'तुम पन्द्रह साल पहले की बात कर रही हो? तब मैं एक नौसिखिया टाइप का पति था। तब

* **संपर्क** – शोधार्थी, काजी नजरूल विश्वविद्याय, नजरूल रोड, कल्ला बाईपास मोड़, पो. कल्ला, सी.एच., आसनसोल–713340 (प. बंगाल), मो.–9547779121
e-mail: vermapurima0@gmail.com

मैं मूर्खतावश साड़ी को एक वस्त्र मात्र समझता था... ''और अब?" अब मैं जानता हूँ कि यह जीवन–मरण तथा अस्तित्व का प्रश्न है।''[1]

हमारे समाज में लोगों की ऐसी मान्यता है कि लड़की जो विवाह से पूर्व या विवाह के समय या विवाह के कुछ दिन तक खुश रहती है वह सब क्षणिक है क्योंकि दाम्पत्य जीवन में कोई बहुत दिन तक खुश नहीं रहता। जैसे जैसे जिम्मेदारी बढ़ती है, दाम्पत्य जीवन में प्रेम और खुशी के जगह क्लेश और उदासीनता आ जाती है। उनकी यह सोच है कि दाम्पत्य जीवन की खुशी ज्यादा समय तक नहीं रहती, इसमें आपस में केवल मतभेद और झगड़े ही होते हैं। ज्ञान चतुर्वेदी जी अपने व्यंग्य निबंध 'लड़की जब खुश होती है' में दिखाते हैं कि एक नई नवेली दुल्हन गाड़ी में चढ़ती है जो अपने विवाह से बहुत खुश हैं, वह शर्माती भी है और अपने पति के बारे में सभी से बातें भी करती है लेकिन कोई भी उसकी खुशी से खुश नहीं होते क्योंकि सब की यही सोच है कि नयी नयी शादी हुई है इसलिए इतनी खुश हैं लेकिन बहुत जल्द दाम्पत्य जीवन का भाव समझ में आ जाएगा। ज्ञान चतुर्वेदी जी लिखते है कि ''ऐसी खुश हो रही है, मानो दुनिया में पहली बार इसी की शादी हुई हो।" आंटी ने कहा।

''बच्ची है अभी... धीरे–धीरे नोन तेल लकड़ी समझेगी तो अक्ल ठिकाने आ जाएगी।'' एक बुजुर्ग बोले।

''छह माह के बाद एक दूसरे का मुँह नोचेंगे... अंकल ने आंटी की तरफ अर्थपूर्ण नजरों से देखा और हँसे।''[2] हमारे समाज की यह समस्या है कि हम अपनी बेटी के विवाहित जीवन की और उसकी खुशी की कामना करते हैं लेकिन पराये बेटी को समाज के चले आ रहे मान्यताओं में ही बांध कर रखते हैं। हम हमेशा यह अपेक्षा करते हैं कि वह मेच्योरिटी के साथ व्यवहार करें। लेकिन लेखक यह सोचते हैं कि यह उनकी बेटी के समान है और जब तक संभव हो उसके जीवन में खुशियां बनी रहें । चतुर्वेदी जी की पंक्ति है – ''मैं सोच रहा हूँ कि माना कि समय के साथ लड़की की यह भोली खुशी धूसरित होने की आशंका है। पर जब होगी, तब होगी। अभी खुश है, तो अचानक ही हमें भी तो सारा संसार कितना प्यारा, सुंदर और चमकदार लगने लगा है। जब से आयी है डिब्बे में सब कितना भला–सा हो गया है। उसकी यह खुशी जब तक रहे, वही काफी है। लड़की जब तक ऐसी खुश है, तब तक जीवन कितना सुंदर रहने वाला है। और मान लो कि कुछ चमत्कार हो और यह जीवन भर ऐसी ही खुश रह जाए तो?... मुझे अपनी बेटी याद आ रही है और मैं चमत्कार के लिए प्रार्थना में हूँ।''[3]

आज हमारे देश की सबसे बड़ी समस्या या कहें चुनौती है – युवाओं को रोजगार मिलना। युवागण बड़ी–बड़ी डिग्री लेकर रोजगार के लिए भटक रहे हैं लेकिन हमारे देश की सरकार और व्यवस्था दोनों असफल है। बेरोजगारी पर अब कोई बात नहीं करना चाहता। बेरोजगार युवाओं के जीवन से सौंदर्य लुप्त हो जाता है, उनका जीवन विरान हो जाता है। ज्ञान चतुर्वेदी जी 'बेरोजगार बेटे'

व्यंग्य में लिखते हैं ''यही तो स्थिति है प्यारे कि बेरोजगार युवक का सीधे–सही विवरण देने लग जाओ, तो सहृदय लोग कविता मान बैठते हैं। जिसके जीवन में कोई लय नहीं, न ही छंद, न अलंकार उसकी बात हमने की, तो आप भी उसे कविता मान बैठे।''[4]

वे अपने व्यंग्य 'सुअर के बच्चे और आदमी' में दिखाते हैं कि गरीबी सुअर के बच्चे और आदमी के बच्चे में अंतर मिटा दिया है बल्कि आदमी के बच्चे की स्थिति सुअर के बच्चे से भी बदघ्तर हो गई है।

प्रेम एक निःस्वार्थ, आनंदमय और आध्यात्मिक अनुभूति है, जिसमें आत्मा का परमात्मा या प्रियतम से सहज संबंध स्थापित होता है। ये समर्पण, धैर्य, क्षमा और त्याग की मांग करता है और भौतिक आकर्षण से परे आत्मिक आनंद की स्थिति है। ये स्वार्थी लोगों का पेशा हो गया है। वह अपने जरूरत के हिसाब से प्रेम का इस्तेमाल करते हैं। जरुरत खत्म प्रेम खत्म। बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो विवाहोपरांत भी अन्य से प्रेम संबंध केवल अपने मनोरंजन के लिए रखते हैं लेकिन जैसे ही वह अपना हक जताने लगती है वैसे ही वह अपने सारे संबंध समाप्त कर देते हैं जैसे उनके बीच कोई संबंध, कोई भाव था ही नहीं। ज्ञान चतुर्वेदी जी अपने व्यंग्य 'पूंजीवादी समय में प्रेम' में दिखाते हैं कि किस प्रकार एक युवक विवाहित होने के बाद भी अपने मनोरंजन के लिए प्रेमिका रखता है और यह चाहता है कि वह अपनी सीमा में रहे, इसके व्यक्तिगत जीवन और काम में किसी प्रकार का बाधा न बने। ज्ञान चतुर्वेदी जी की पंक्ति है' वो कदाचित उस तरफ से शिकायतें–गिले–शिकवे करने पर आमादा थी, जबकि यह फालतू ही समय नष्ट करने में विश्वास नहीं करता। ''...और? तेरी वो कैसी है? अरे वोई ....हा हा हा।... हमारा नाम लेकर ही कुछ–कुछ कर लिया कर। ...सच्ची।... लव यू।... सी बडी, अंडरस्टैंड किया कर। तू बस शिकायतें करती रहती है।... कुड़िये, कैरियर के लिए करना ही पड़ता है।.. तो क्या तेरा हाथ पकड़ के बैठा रहूँ?... तू क्या चाहती है कि दुनिया आगे निकल जाए और मैं तेरी...। आई डॉन्ट केयर।... अरे ये ही बकवास करनी थी तो स्साली तूने फोन ही क्यों किया? ....जानती है तू? रोमिंग ठुक रही है इधर ... रैण दे।'' जब प्रेमिका अपना अधिकार और उसका सच उसकी पत्नी को बताने की बात करती है, युवक उससे पीछा छुड़ाने और उसे ठिकाने लगाने का इंतजाम कर देता है। ज्ञान चतुर्वेदी जी लिखते है – ''नबटना ही होगा इस प्रेमिका की बच्ची से। धमकाती है कि बाइफ को जाकर फोटू दिखा देगी। हिम्मत देखो स्साली की। इत्ती गिफ्ट–पर अब ये शिपट। फिर भी। फोन पर इंतजाम करने लगा वह। रश्मि स्साली बड़ी डिमांडिंग हो गयी है। एकदम घरवाली टाइप।... बस, तू ठीक कर उसे।... वहीं द्वारका में रैती है। पकड़ स्साली को। मारियो मती।... बाल–साल खेंच खाँच दे।... डरा दे। इत्ते में ही फट लेगी। एकाध चपेड़े भी मार दे। धमका दे कि अशोक से दूर रहे।...''[5]

ज्ञान चतुर्वेदी जी अपने व्यंग्य 'प्यार से बाहर निकलने के तरीके' में ऐसे

ही व्यक्ति की बात कहते हैं जो कुछ दिन प्रेम में रहने के बाद अब उससे बाहर निकलने के लिए ज्ञान जी से मदद और उपाय की तलाश में जाता है। ज्ञान जी लिखते है कि ष्हम यही समझे कि मुन्नालालजी इसी तरह की कोई समस्या लेकर आये होंगे परंतु हम गलत थे। मामला प्यार का ही था परंतु इस बार इसका पक्ष दूसरा ही निकला। वे हमसे पूछने लगे कि भाई साहब, आप तो यह बताओ कि प्यार के चक्कर से निकलें कैसे? वे प्यार में पड़ जाने के बाद उससे निकलने की तजवीज पूछ रहे थे। कहने लगे कि प्यार में पड़ने के लिए इत्ती सलाहें रहती हैं तुम्हारे पास तो बाहर निकलने की भी होंगी ही। निकलवाइए। फंस गया हूँ। कुछ बताओ।''[6]

ज्ञान चतुर्वेदी जी समाज के साथ–साथ राजनीतिक विसंगतियों पर भी तीखा प्रहार करते हैं। वे अपने व्यंग्य रचना में दिखाते हैं कि हमारे देश की राजनीतिक पार्टी नहीं चाहती कि जनता सचेत हो, समझदार हो, अध्याय के विरुद्ध आवाज उठाते, सत्य असत्य को समझें क्योंकि देश की जनता जागरूक हो गई तो राजनीतिक पार्टियों का बोलबाला खत्म हो जाएगा, उनका अपना बैंक भरना, जनता को बेवकूफ बनाकर देश को लुटना बंद हो जाएगा, वे भाड़ झोकेंगे, बोझा ढोना, बीड़ी बनाने जैसा कार्य करेंगे। प्रजा के जागरूक, सचेत होने के नाम मात्र से राजनीतिक पार्टियों का हृदय कांप उठता हैय वे स्वप्न में भी ऐसा नहीं सोचना चाहती है कि प्रजा जागरूक हो। चाहे सत्ता पक्ष हो या विरोधी पक्ष दोनों ही नग्न है, उनके इरादे ठीक नहीं है, वे प्रजा के हित में नहीं बल्कि स्वार्थ – हित में कार्य करती है। ज्ञान चतुर्वेदी जी 'विष, यह राजनीति' निबंध में लिखते हैं –

''विक्षिप्तों के बूते ही तो/राजनीति है/मैं हूं, तुम हो।/वोटर यदि विक्षिप्त न होते/होती बुद्धिमता यह जनता–/तुम न होते।/हम न होते।/भाड़ झोंकते, बोझा ढोते/बीड़ी बनाते।/प्रजा सजग हो/छल–प्रपंच को समझे/हम नग्न है कितने यह जाने वह/कौन चाहता है यह?/विशेषाधिकार के इस हमाम में नग्न सभी हम/सत्ता या विरोधी पक्ष सभी।''[7]

देश की राजनीति में पार्टी अपने लाभवश दल बदल रहे हैं। जो पार्टी सत्ता पक्ष में है, उसी पार्टी में शामिल हो जाते हैं। राजनेताओं को पद, पैसा प्यारी हैय पार्टी या सिद्धांत नहीं । वह जिस दल में शामिल होते, उसी का गुणगान करने लगते हैं। 'विष, यह राजनीति' में ज्ञान जी लिखते हैं– ''अभी पांच अपने गुट वाले /विधायकों को बंदी बना लिया है।/पटा लिया है, लगता है यह।/मंत्रीपद का माल दिखाकर/लाख रुपए का भाव लगाकर/विविध प्रलोभन देकर/मेरे गुट को तोड़ विधायक लेते जाना।''[8]

हमारे देश में व्यवस्था कहने मात्र के लिए ही है। व्यवस्था के तात्पर्य है सिस्टम। जहां सारे कार्य एक नियम, तंत्र, कानून के अनुसार समय पर सबके लिए बराबर तरीके से की जा रही है। लेकिन हमारे देश की व्यवस्था विकलांग हो गई है। यहां पर्यवेक्षण का कार्य अंधों को दिया जाता है, जो देख नहीं सकते वे

पर्यवेक्षण कैसे करेंगे ? और बोलने का कार्य गूंगे को, जो बोल नहीं सकते । हमारे देश में व्यवस्था नाम की कोई चीज नहीं है, बस यह भ्रम है कि व्यवस्था है जिसके अनुसार देश चल रही हैं। उन्हें ऐसे बोलने वाले चाहिए जो उनके पसंद का बोले। उनका अंधों की तरह समर्थन करें। देश को ऐसे बोलने वाले चाहिए जिनका अर्थ ही ना समझ पाए। ज्ञान जी 'कृपया आदमकद न पधारे' में लिखते हैं – ''एक बड़े विकलांग सोच की पैदाइश है यह व्यवस्था। यहां सही बात सुनने से डरने वाले गूंगों को पकड़ा करते हैं कि वे स्थिति पर कुछ बोले। यहां वस्तु स्थिति को ढंककर रखने के लिए अंधों में स्थिति पर नजर रखने को कहा जाता है। एक भयभीत झूठ–मुठ की व्यवस्था की चपेट में है यह देश। यह व्यवस्था स्वयं जानती है कि व्यवस्था जैसे चीज कुछ शेष नहीं, परंतु व्यवस्था का भ्रम तो रखना ही है। व्यवस्था का भ्रम खड़ा है खेत के बीचोबीच, फटी पुरानी उजबक सी पोषाक डालकर खड़ा है बिजूका व्यवस्था का पुतला गूंगे चाहिए व्यवस्था को। देश को बोलने वाले ऐसे गूंगे चाहिए कि जो घिघियाते गों– गों करते कुछ ऐसी आवाज करें, जो अर्थहीन हो; अर्थ वे निकालेंगे। आप केवल होंठ हिलाएं। आवाज उनकी होगी। डबिंग वे करेंगे। ऐसे बोलने वाले चाहिए; जिनका कहा सच सा लगे, पर निरापद हो। वे जो सच को देख ले, पर अनदेखा कर जाएं क्योंकि जो भी हुआ, उससे उनका तो कुछ बिगड़ा नहीं और जिनका बिगड़ा, वे उनके कुछ थे नहीं। ऐसे देखने वाले अंधे कि जो वही देखे कि जो दिखाय।''[9]

देश में चुनाव से पूर्व नेतागण जनता के समक्ष देश, प्रदेश, क्षेत्र के विकास की लम्बी–चौड़ी लिस्ट का बखान करते हैं कि वह अगर सत्ता में आएंगे तो यह कर देंगे, वह कर देंगे लेकिन जैसे ही वह सता पर में आते है वह विकास के नाम पर अपना बैंक अकाउंट भरती है। अगर विकास के नाम पर नाम कुछ नवनिर्माण भी करती है तो उसकी स्थिति मलवे जैसी होती है लेकिन सरकार के लिए वह विकास है। जान चतुर्वेदी जी के व्यंग्य 'विकास उर्फ तिरछी नजर और दबी आँख' में सत्ताधारी नेता द्वारा विकास के नाम पर एक पुलिया बनाया गया था लेकिन पुलियत की स्थिति को स्थान से देखके पर पता चलता है कि उसमे प्रयोग की गई इट अधपक्की धंसी हुई है। पलस्तर भर चुना है। स पुलिया के दोनों तरफ की सड़क टूट चुकी है और पुलिया अब मलब, जेटबार हो गया है। इतनी जर्जर अवस्था में भी की दिशा में एक सार्थक कोशिश बताया जा रहा है। पुतिका मैं भी पुलिया का विकास कैसी बभी यह मायने नहीं रखता है, पुलिया है, उसे बनाना ही विकास का होना है। वे (चौधरी साहब) जनता को सवाल पर (विकास को न मानने की स्थिति पर) अपनी थ्योरी समझाते हुए कहते है। ''इसलिए तो विकास पिछड़ता जा रहा है हमारे देश में। कांग्रेस विकास करें तो भाजषा उसे विकास नहीं मानती, भाजपा करवायें तो समाजवादी नहीं मानते और आप जैसे तो किसी का किया नहीं मानते।''[10]

हमारे देश में न्यायलय में इतनी केस है जिसका निर्णय नहीं हुआ है और

कब होगा कार नहीं जानता। एकबार कोई मामला अदालत में आ जाए फिर वह वर्षों तक तारीख पर तारीख दिया जाता है लेकिन इतने वर्षों तक चलने के बाद भी न्याय का निर्णय हो जाएगा ऐसी कोई संभावना नहीं। जान जी के व्यंग्य निबंध 'स्वर्णकाल का न्याय उर्फ असली किस्सा मुर्ग पुनर्जन्म' में चन्द्रकांत राजा से प्रश्न करते हुए कहता है– ''न्यायधीश का यह कैसा न्याय कि दो बरस में एक पेशी भी नही भई।" इस पर राजा चन्द्रकान्त को समझाते हुए कहता है ''हमारे राज्य में न्याय अष्टसिद्धि की भाँति कठिन तथा समयसाध्य कार्य है। न्याय मिलेगा, चाहे हजार बरस में मिले।''[11]

सरकारी दफ्तर में कार्य करवाने के लिए उसकी सही कीमत चुकानी पड़ती है तब जाकर काम पूरा होता है नहीं तो किसी न किसी बहाने सरकारी सरकारी कर्मचारी या तो काम को टालते है या नहीं करते। लेकिन जैसे ही आप काम की कीमत देते हैं वह फौरन। सब काम छोड़ आपका काम करते हैं। निकाले में लिखते है दे देंगे। ज्ञान चतुर्वेदी जी अपने निबंध 'गलत मतलब न' सौ का पत्ता निकाल दें फिर जो सूचना कहेंगे– ''यह तो उचित नहीं।''

''यही रेट है। इस दफ्तर का यही रेट है। हमारा दुर्भाग्य है कि इस सड़े डिपार्टमेंट में बैठे हैं। कहीं और होते तो हजार माँगते और आप देते भी।''

''सूचना प्राप्त करना हमारा अधिकार है।''

''अधिकार का रेट इधर सौ रूपए है भैया, बताया न।"

''कुछ कम कर देते ?''

''सरकार बुरा मान जाएगी कि दफ्तर का सिस्टम खराब कर रहे हैं।''

''चलिए लीजिए ये सौ।''

''अब कब आकर ले लूं ? अभी ले जाइए न। पंद्रह मिनट लगेंगे। अभी तो दफ्तर के वर्किंग ऑवर भी चल रहे हैं आप ही कह रहे थे।''[12]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ज्ञान चतुर्वेदी आधुनिक हिंदी व्यंग्य साहित्य के श्रेष्ठ व्यंग्यकार हैं। उन्होंने विभिन्न रचनाओं के माध्यम से सामाजिक अव्यवस्था, राजनीतिक भ्रष्टाचार, राजनीति की दुर्नीति, आर्थिक असमानता एवं धार्मिक अंधविश्वासों को उजागर करने का प्रयास किए हैं। वे दाम्पत्य जीवन की समस्या, समाज में स्त्री की स्थिति, बेरोजगार युवाओं की मानसिक स्थिति, गरीब व्यक्ति की दयनीय स्थिति और समाज में उसका स्थान, आधुनिक युग में प्रेम संबंध का यथार्थ के साथ साथ राजनीति और राजनेताओं के खोखले, पाखंड और भ्रष्ट नीति पर भी व्यंग्य करते हैं। अतः हिंदी व्यंग्य साहित्य में उनका महत्वपूर्ण स्थान है और व्यंग्य साहित्य के विकास में उनका योगदान विस्मरणीय है।

संदर्भ–

1. शांति की तलाश में साड़ी स्टोर की तरफ, व्यंग्य सप्तक, ज्ञान चतुर्वेदी, शिवना प्रकाशन, सीहोर, म.प्र. 2023, पृष्ठ संख्या–7
2. लड़की जब खुश होती है, गौरतलब व्यंग्य, ज्ञान चतुर्वेदी, भारत पुस्तक भंडार, दिल्ली,

2018, पृष्ठ संख्या–63
3. लड़की जब खुश होती है, गौरतलब व्यंग्य, ज्ञान चतुर्वेदी, भारत पुस्तक भंडार, दिल्ली, 2018, पृष्ठ संख्या–64
4. बेरोजगार बेटे, जो घर फूंके, ज्ञान चतुर्वेदी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ संख्या–160
5. पूंजीवादी समय में प्रेम, प्रत्यंचा, ज्ञान चतुर्वेदी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ संख्या–64–65
6. प्यार से बाहर निकलने के तरीके, ज्ञान चतुर्वेदीः संकलित व्यंग्य, ज्ञान चतुर्वेदी, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ संख्या–34
7. विष, यह राजनीति, प्रेत कथा, ज्ञान चतुर्वेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2025, पृष्ठ संख्या–229
8. विष, यह राजनीति प्रेत कथा, ज्ञान चतुर्वेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2025, पृष्ठ संख्या–230
9. कृपया आदमकद न पधारे, अलग, ज्ञान चतुर्वेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017 पृष्ठ संख्या–229
10. विकास उर्फ तिरछी नजर और दबी आँख, विषम कोण, ज्ञान चतुर्वेदी, राजपाल एंड सन, दिल्ली, 2024, पृष्ठ संख्या–40
11. स्वर्णकाल का न्याय उर्फ असली किस्सा मुर्ग पुनर्जन्म, प्रेत कथा, ज्ञान चतुर्वेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2025, पृष्ठ संख्या–101
12. गलत मतलब न निकाले, ज्ञान चतुर्वेदीः संकलित व्यंग्य, ज्ञान चतुर्वेदी, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ संख्या–135

■

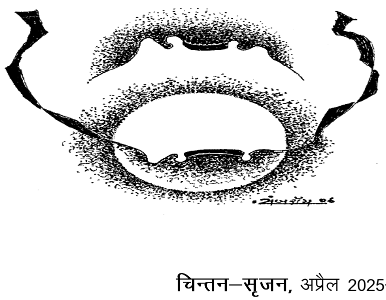

साहित्य चिंतन

निर्गुण संत कविता में काव्यशास्त्रीय तत्त्व

सर्वेश मिश्र *

भारतीय ज्ञानपरंपराओं के मूलाधारों में भारतीय साहित्य ही मुख्य है। इस साहित्य का आधार टिका है भारतीय काव्यशास्त्र, कामशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, नीतिशास्त्र और दर्शनशास्त्र पर। निर्गुणिया संत कवियों ने जो रचनाएँ की हैं, उनमें उपर्युक्त सभी भारतीय साहित्य के संघटक तत्त्वों की महती भूमिका रही है; परन्तु यहाँ पर हम निर्गुण संत कविता में अनुस्यूत काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की ओर ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं।

निर्गुण संत कविता के बारे में यह आम धारणा है कि वह शास्त्र से कटी हुई नितांत लोक से उपजी लोकभाषा में लोक की कविता है। प्रायः यह कहा जाता है कि उसका शास्त्रीयता से नहीं बल्कि संतों के जीवनानुभवों और आचरण (कथनी–करनी) से संबंध है। यह बात सत्य होते हुए भी अधूरी है। यदि हम निर्गुण कविता का ठीक से मूल्यांकन करें तो हम पाते हैं कि निर्गुण कविता के कथ्य में (ब्रह्म या परमसत्य के निरूपण में शास्त्रीय आधार अनुस्यूत हैं) और उसकी अभिव्यक्ति में भी शैलीगत वैशिष्ट्य के रूप में शास्त्रीय तत्त्व द्रष्टव्य हैं। ब्रह्म या राम अथवा परमतत्त्व के निरूपण (शंसनात् शास्त्रं अर्थात् तत्त्व निरूपण) में औपनिषदिक चिंतन, श्रीमद्भागवत पुराण, सांख्य–दर्शन, बौद्ध–दर्शन, नारदभक्तिसूत्र, आदि तथा कविता में संस्कृत काव्यशास्त्र के घटक तत्त्वों– काव्य हेतु, काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन, छंद, ध्वनि, रस, अलंकार, वक्रोक्ति इत्यादि तथा कामशास्त्र (शृंगारिक पदों में) की परंपरा का गहरा बोध या स्वाभाविक प्रभाव अथवा छाया उपस्थित है। (यह अवश्य है कि निर्गुण कविता में शास्त्र, शासनात् शास्त्रं अर्थात् काव्यशास्त्रीय अनुशासन के रूप में नहीं है, अपितु शंसनात् शास्त्रं अर्थात् तत्त्व निरूपण के रूप में है)। निर्गुण कवि काव्यशास्त्र से बद्ध नहीं हैं; परंतु काव्यांगों और काव्यरूपों में सिद्ध जरूर हैं। प्रो. करुणाशंकर उपाध्याय ठीक ही कहते हैं, "भक्तिकालीन कवियों ने भले ही सुव्यवस्थित रीति से आचार्यों की भाँति काव्यचिंतन न प्रस्तुत किया हो; परंतु जाने अनजाने काव्य के स्वरूप, काव्य के उद्देश्य, काव्य की रचना प्रक्रिया तथा काव्य के प्रभाव के संदर्भ में जो विचार व्यक्त

* **संपर्क** – शोधछात्र, हिंदी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
मो. 8601333487

किए हैं, वे आज भी मूल्यवान और स्पृहणीय हैं।"[1]

जिस तरह संस्कृत काव्यशास्त्र में कविता के शरीर और आत्मा को लेकर काव्यशास्त्रीय आचार्यों के बीच लंबी चर्चा–परिचर्चा हुई और छह सम्प्रदाय विकसित हुए, उसी तरह सत्रहवीं शताब्दी के आसपास संतकवियों की काव्यशास्त्र के प्रति बढ़ती रुचि ने भी कविता के शरीर और आत्मा को लेकर भिन्न शब्दावली में विचार किया है। सुंदरदास ने कविता के शरीर की तुलना योगी के शरीर से की और कविता की आत्मा 'हरियश' को घोषित किया। दलपत सिंह राजपुरोहित लिखते हैं, 'सुंदरदास की कविता का शरीर एक योगी या तपस्वी का शरीर है। जिस ढँग से योग के यम–नियम शरीर के परिष्कार की बात करते हैं; सुंदरदास के अनुसार यह परिशोधन कविता रूपी शरीर में शृंगार की जगह भक्ति को स्थापित करके ही हो सकता है। सुंदरदास ने कविता का प्राण 'हरियश' मानकर एक प्रकार से काव्य प्रयोजन ही स्पष्ट किया है।"[2] कबीर ने अपने दोहों को 'बानी' में व्यक्त किया और प्रकारांतर से उन्हीं में काव्यप्रयोजन भी बता दिया साथ ही नैतिक उपदेश भी। निर्गुण कविता में काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के समावेश के साथ एक नई मूल्य व्यवस्था, भक्तिरस तथा नया सौंदर्यबोध बनने लगा था। जो जीवन मूल्य में स्थापित करना चाहते थे, वे प्रकारांतर से उनके काव्यप्रयोजन ही थे और लोक का दुःख ही उनका काव्य हेतु था, जो उन्हें सृजन के योग्य बनाता था। उनके लिए संसार का दुख कहने के लिए प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास की जरूरत नहीं थी। उदाहरण के रूप में कबीर का एक दोहा है–

ऐसी बानी बोलिए मन का आपा खोय
अपनां तन सीतल करै औरां को सुख होय।।[3]

परंपरा में तीन काव्य हेतु– प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास स्वीकार किए गए हैं; परन्तु कबीर ने 'मैं कहता आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी' कहकर इन काव्य हेतुओं से हटकर अपनी कविता की मूल प्रेरणा 'स्वानुभूति' को माना। यहाँ पर प्रो. करुणाशंकर उपाध्याय का कथन द्रष्टव्य होगा जिसमें उन्होंने कहा, 'कागद लेखी के प्रति अनास्था व्यक्त कर उन्होंने ग्रंथानुशीलन को काव्यहेतु मानने का स्पष्ट विरोध किया है।'[4] स्पष्ट है कि प्रकारांतर से कबीर ने अनुभूति की प्रामाणिकता को ही काव्य हेतु कहा है। सुंदरदास ने परंपरा से 'नायिका भेद' भी लिया है; परन्तु उसकी अंतर्वस्तु बदलकर सौंदर्यबोध बदल दिया है। दलपत राजपुरोहित बताते हैं कि सुंदरदास स्त्री के सौंदर्य की जगह उस शरीर की बात करते हैं जो मलिन है, विकारयुक्त है।[5] वे 'नखशिख' की चर्चा करने वालों को गँवार कहते हैं–

सुंदर कहत नारी नखशिख निंद रूप
ताहि जे सराहैं ते तौ बड़ेई गँवार हैं।[6]

सुंदरदास अपनी रचनाओं में यह अपेक्षा रखते हैं कि संतबानी को छंदों की दृष्टि से शुद्ध होना चाहिए, जिसमें गण, मात्रा व अक्षर खंडित नहीं होने चाहिए। सुंदरदास ने भी काव्यशास्त्रीय आचार्यों की तरह उत्तम और निम्न कोटि की

कविता का निर्धारण किया है। वे अलंकृत और छंदयुक्त कविता को उत्तम कोटि की कविता मानते हैं लेकिन शृंगारिकता को नापसंद करते हैं–

'तुक भंग छंद भंग अरथ न मिलै कछु
सुंदर कहत ऐसी बानि नहीं कहिए'[7]

कबीर, दादू, सुंदरदास सदृश संतों ने शास्त्रीय परंपरा से अपने को जोड़ते हुए संग्रह–त्याग करके निर्गुण कविता को अधिक प्रामाणिक बना दिया है। इसी तरह चरणदास ने संस्कृत उपनिषदों व उपाख्यानों के हिंदी अनुवाद किए। गुरु गोविंद सिंह ने भी कुछ संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद करवाए।[8] यूं तो और भी रसों की चर्चा हुई है परंतु संत कविता स्वभावतः शांत रस प्रधान रही है। इसका कारण डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी बताते हैं कि 'समूची संत उक्तियां ऐसे अंतस से निकली हैं जहां शांत रस का सागर पहले से लहरा रहा है' इसलिए वे सारी उक्तियां शांतरस प्रधान हैं।[9] शृंगार की चर्चा यत्र–तत्र मधुर या भक्तिरस के रूप में आई है। यह भक्तिरस सभी रसों से बढ़कर था और भक्ति कविता द्वारा विकसित किया हुआ यह मौलिक रस था। निर्गुण कविता में विभिन्न रसों के उदाहरण निम्नलिखित हैं–

धरनीदास के दो पद जो शांत रस के अच्छे उदाहरण हैं–

"ज्ञान को बान लगो धरती, जन सोवत चौकि अचानक जागे
छूटि गयो विषया विष बंधन, पूरन प्रेम सुधारस पागे।।"[10]
"अजब तमासा देखा तेरा,ताते उदास भया मन मेरा।
उतपति परलय नित उठ होई,जग में अमर न देखा कोई।।"[11]

इसी प्रकार मधुर रस के कुछ पद–

"अब तोहि जान न दैहूं राम पियारे
ज्यूं भावै त्यूं होइ हमारे।।"[12]
"राम रंगीलै कै रंगराती
परमपुरुष संग प्राण हमारौ,मगन गलित मदमाती।।"[13]

कबीर ने शांत रस के साथ ही कुछ वीभत्स रस के भी पद लिखे हैं, जैसे–

"चलत कत टेढ़ी टेढ़ौरे
नऊं दुवार नरक धरि मूंदे, तू दुरगंधि को बेढौरे।।
जे जारै तौ हो भसम तन, रहित किरम जल खाई।
सूकर स्वान काग कौ भाखिन, तामैं कहा भलाई।।"[14]

इसी प्रकार अद्भुत रस का एक उदाहरण भी द्रष्टव्य है–

एक अचंभा देखा रे भाई,ठाढ़ा सिंह चरावै गाई।
पहले पूत पीछे भई माई,चेला कै गुरु लागै पाई।।[15]

निर्गुण कवियों की रचनाओं में हास्य, रौद्र और भयानक रस का लगभग अभाव है। परंपरा से प्राप्त रसों का उल्लेख पदों में तो मिलता ही है साथ ही कुछ नवीन रसों की भी उद्भावना मिलती है। भक्तिरस इस बात का ज्वलंत प्रमाण है। निर्गुण कविता में शांत रस का वही स्वरूप नहीं रह गया जो परंपरा में था, अपितु

उसके भाव में किंचित परिवर्तन भी हुआ। परंपरा में शांत रस जो अभावमूलक राग था, उसे निर्गुण कविता ने आनंदमूलक बना दिया प्रो. योगेन्द्र प्रताप सिंह लिखते हैं, "वह शांतरस जो वैराग्य, निर्वेद व वासनामुक्तिमूलक था, वह आनंदमूलक होता गया। आचार्य शंकरकृत आनंदलहरी तथा सौंदर्यलहरी का शांत रस ब्रह्महेतुभाव से संबद्ध विश्रांतिमूलक एवं तृष्णाक्षयसुखमूलक आनंद से संबद्ध है। यहां निर्वेद, राग, वैराग्य, रागमुक्तिमूलक शांत रस की स्थिति अस्वीकृत हो उठी। निर्वेद अभावमूलक (negative) रागवासना का विधिरूप (positive) बन गया। यह भारतीय आध्यात्मिक काव्यास्वाद की परंपरा के विकास का द्वितीय सोपान है।"[16] इसे ही राममूर्ति त्रिपाठी ने दूसरे शब्दों में कहा है कि 'शांतरस निर्गुण कविता में वैराग्यमूलक 'शम' का परिणाम नहीं है, अपितु समाधि संपन्न संत जो निवृत्ति से प्रवृत्ति की ओर लौटकर दोनों की आसक्ति और त्यागमूलक अंतर को मिटा चुके हैं। अर्थात् इस कविता में राग और वासना का शमन नहीं शोधन है और शोधन के माध्यम से परिच्छिन्न का अपरिच्छिन्नीकरण है।"[17]

अलंकारों में संतों ने वृत्यानुप्रास, छेका, लाटा, वीप्सा, यमक और पुनरुक्तवदाभास इत्यादि शब्दालंकारों का प्रयोग किया है। अर्थालंकारों में रूपक, विभावना, अन्योक्ति, एकावली, तुल्ययोगिता, काव्यलिंग, उपमा, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, माला दीपक, सार तथा कारणमाला इत्यादि अलंकार प्रमुख हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

"छूटे छंद तो लागे बंद,लागे बंद तो अमरकंद,
अमरकंद दादू आनंद।।दादू।। कारणमाला अलंकार।।"[18]
"कहिवे सुनिबे मन खुशी करिवा और खेल,
बातों तिमिर न भाजई दीया बाती तेल।।"[19] दादू।।अर्थातरन्यास।।
"संतों भाई आई ग्यान की आँधी" माया दीपक नर पतंग"[20] (रूपक)
"बाँझ का पूत बाप बिन जाया"[21](विभावना)
"मालन आवत देखि करि कलियाँ करी पुकार
फूले फूले चुनि लिए कान्हा हमारी बार।।"[22] (अन्योक्ति)

संतों ने बहुत–सी उलटबांसियों की रचना की है। इन उलटबांसियों में उन्होंने परंपरा से प्राप्त प्रतिमानों के साथ ही तमाम सारे नए उपमानों का प्रयोग भी किया है और उनमें नए अर्थ भरने की कोशिश की है। इन उलटबांसियों में प्रायः असंगति, विरोधाभास, विशेषोक्ति तथा विभावना अलंकार पाया जाता है। कुछ उलटबांसियों की भी चर्चा अपेक्षित है। कबीर कहते हैं–

"समंदर लागी आग, नदिया जल कोइला भई,
देखि कबीरा जानि मंछी रुषां चढ़ि गई।।"[23]

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी बताते हैं कि यहां पर रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। साथ ही 'समंदर' अविद्या का, 'नदियां' वृत्तियों का, 'आग' ज्ञान का और 'मंछी' जीवात्मा का तथा 'रूषां' सुषुम्ना द्वारा ऊर्ध्व गमन का प्रतीक बताया गया है। इसी

प्रकार अन्य पदों में 'चरखा' शरीर का, 'बढ़ई' मन का प्रतीक बनकर आता है।'[24] संतों ने ऐसे बहुत से पद लिखे हैं जो 'ध्वनि' के भेदों–प्रभेदों, वक्रता के प्रकारों और शब्द शक्ति के भेदों की चर्चा करते हैं–[25]

"जो कुछ किया सु हरि किया,भया कबीर कबीर।"

"बिरहा बिरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुल्तान।
जिहि घट बिरह न संचरै,सो घट घाट समान।।"

जहां पर 'लोकोत्तर चमत्कार की इच्छा से अर्थ का अन्य रमणीय एवं उत्तम अर्थ में ले जाना कवि का मंतव्य होता है'[26] वहां पर रूढ़ि वैचित्र्य– वक्रता होती है। यहां पर पहले पद में दूसरे 'कबीर' शब्द के माध्यम से लोकोत्तर चमत्कार पैदा करने की कोशिश कबीर ने की है, अतः यहां पर रूढ़ि वैचित्र्य–वक्रता होगी। इसी प्रकार दूसरे पद में भी। ध्वनि की दृष्टि से विचार करें तो हम जानते हैं कि 'जब वाच्यार्थ अन्यार्थ में संक्रमण कर दिया जाए या बदल जाए तो वहां अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि होती है।'[27] इस प्रकार इन दोनों पदों में अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि है। इसके साथ ही शब्द शक्ति की दृष्टि से यहां अन्यार्थ लक्षित होने पर भी मुख्यार्थ बना हुआ है इसलिए उपादान लक्षणा होगी।

कबीर का एक अन्य पद हैं–

अनहद बाजै नीझर झरै
उपजै ब्रह्म गियान
अविगत अंतर प्रगटै
लागै प्रेम विमान।।[28]

'अनहद' शब्द का प्रयोग करके एक विशेष चमत्कार पैदा किया गया है। यदि इस शब्द के अन्य पर्यायों में कोई और पर्याय लिख दिया जाता तो शायद वह चमत्कार नहीं आता। इसलिए यहां 'पर्याय वक्रता' है। कभी कभी कवि रूपक प्रयोग करके अमूर्त में मूर्त का आरोप कर देते हैं,तो वहां उपचार वक्रता मानी जाती है। संतों ने ऐसे पद लिखे हैं जैसे–

"प्रेम दिवाने जो भए, मन भयो चकनाचूर
छके रहे घूमत फिरें,सहजो देखि हजूर।।"[29]

उपर्युक्त पंक्ति में मन के चकनाचूर होने में मन का मूर्त रूप में होना प्रतीत होता है जबकि ऐसा है नहीं। यह स्पष्ट है कि यहां 'उपचार वक्रता' होगी। शब्द शक्ति की दृष्टि से देखें तो यहां मुख्यार्थ बाधित होने की वजह से लक्षणा शब्दशक्ति से अर्थ ग्रहण करना पड़ रहा है अतः इसमें लक्षण लक्षणा शब्दशक्ति है। इसी तरह अन्य प्रकार की वक्रता के उदाहरण संत कवियों के यहां उपलब्ध हैं–

'विशेषण वक्रता' का उदाहरण–

"मीठी मीठी माया तजी न जाई
अग्यानी पुरिष को भोली भोली खाई।।"[30]

(यहां मीठी विशेषण से रमणीयता प्रकाशित हो रही है, अतः यहां विशेषण

वक्रता है)

'संवृत्ति वक्रता' का उदाहरण–

"अनुभव कथा कवन सो कहिए
है कोई चतुर विवेकी
कहे कबीर गुरु दिया पलीता
सो झल बिरलै देखी।।"[31]

(संवृत्ति यानी छिपाना अर्थात् जब सर्वनाम के द्वारा वस्तु को छिपाकर चमत्कार पैदा किया जाए, वहां सवृत्ति वक्रता होती है)

'पदपरार्ध वक्रता' का उदाहरण–

जहां पर काल, कारक, वचन, पुरुष, उपग्रह, प्रत्यय या उपसर्ग के माध्यम से चमत्कार या वक्रता पैदा की जाती है, वहां पदपरार्ध वक्रता होती है। जायसी का एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

"पिय सों कहहु संदेसड़ा
हे भौंरा हे काग
वह धनी बिरहै जरि मुई,
तेहिक धुंआ हम लाग"[32]

(डॉ. राजवंश सहाय 'हीरा' बताते हैं कि यहां 'संदेश' शब्द में 'ड़ा' प्रत्यय लगे होने से वक्रता पैदा हो रही है, अतः यहां पदपरार्धवक्रता (प्रत्यय वक्रता) है।

निर्गुण संतों ने परंपरा से प्राप्त काव्यरूपों में रचना की और साथ ही कुछ नये काव्यरूपों का निर्माण भी किया। ऐसे बहुत से काव्यरूप हैं जो भक्तिकालीन संतों की मौलिक देन हैं। संत कवियों ने प्रबंधकाव्य लगभग न के बराबर लिखे; परंतु मुक्तक गेय पदों (जो शब्द या भजन अथवा बानी के रूप में जाने जाते हैं) की रचना प्रचुर मात्रा में की। इनके काव्यरूपों का आरंभिक स्वरूप हमें बौद्धों के चर्यागीतों में मिलता है। ये चर्यागीत भी वज्रगीतियों से प्रभावित हैं, ऐसा आचार्य परशुराम चतुर्वेदी जी का मानना है।

वहीं पर सिक्खों के 'आदिग्रंथ' में 'ध्रुव' के स्थान पर 'रहाउ' नाम पाया जाता है। गुरुनानक की पंक्ति है–

''गावहु गावहु कामणी विवेक वीचारु
हमारे घर आइआ जगजीवनु भतारु।।रहाउ।।''[33]

संतों ने दोहा, सोरठा, चौपाई के अतिरिक्त अरिल्ल, छप्पय (दादूपंथी), सार, हरिपद, चौपाई, सरसी, गीता, मुक्तामणि, श्याम उल्लास आदि अन्य छंदों का मौलिक प्रयोग किया है। संत कवियों की उलटवाँसियों ने भी काव्यरूपों को विस्तार दिया है। संतों के साखी संग्रहों में विभिन्न अंगों जैसे– गुरुदेव को अंग, सुमिरण को अंग, परचा को अंग, विरह को अंग, सुरति को अंग आदि की चर्चा होती है। संतों ने दोहे और चौपाइयों को क्रम से रखकर एक नया काव्यरूप विकसित किया जो प्रायः वर्णनात्मक होता है। कबीर की रमैनी में इस तरह का

प्रयोग किया गया है जो अपभ्रंश की परंपरा से आया है। सिक्खों की साखियों को कहीं–कहीं 'सलोक' नाम भी दिया गया है। इस प्रकार यह देखने में आता है कि संत कवियों ने अपने से पहले चले आ रहे काव्यरूपों को स्वीकार करते हुए उनका विस्तार भी किया। साथ ही कुछ नये काव्यरूपों का निर्माण किया।

वस्तुतः यह बात सही है कि निर्गुण कविता लोक से उपजी हुई लोक भाषा में रची गई कविता है; परंतु इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि वह शास्त्र से कटी हुई है। निर्गुण कवियों को कविता और शास्त्र दोनों की परंपरा उत्तराधिकार में प्राप्त है। सुंदरदास और चरणदास जैसे कवियों की कविताएं तो इस बात की प्रतिनिधि प्रमाण हैं। निर्गुण कविता के पृष्ठाधार में कविता का शास्त्र उपलब्ध है जो कहीं मद्धिम है तो कहीं मुखर। इस कविता का मूल्यांकन यदि गंभीरता से करें तो हम यह पाते हैं कि काव्यशास्त्र के जिन संघटक तत्त्वों को आधार बनाकर सगुण और शास्त्रीय कविता का मूल्यांकन किया जाता रहा है, वे सभी निर्गुण कविता के मूल्यांकन में सहायक हो सकते हैं। निर्गुण कविता का एक बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा है जिसका मूल्यांकन काव्यशास्त्रीय संघटक तत्त्वों यथा– रस छंद, अलंकार, शब्द शक्ति, ध्वनि, वक्रोक्ति इत्यादि के आधार पर किया जा सकता है।

संदर्भ–

1. मध्यकालीन कविता का पुनर्पाठ, करुणाशंकर उपाध्याय, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2021, पृ. 210
2. सुंदर के स्वप्न, दलपत सिंह राजपुरोहित, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2023, पृ.134
3. कबीर की साखियां, कविता कोश
4. मध्यकालीन कविता का पुनर्पाठ, करुणाशंकर उपाध्याय, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2021, पृ. 211
5. सुंदर के स्वप्नय दलपत सिंह राजपुरोहित, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2023, पृ.138
6. सुंदर ग्रंथावली (भाग–2), (सं) रमेशचंद्र मिश्र, किताब घर, संस्करण 2012, पृ. 756
7. सुंदर ग्रंथावली (भाग–2), हरिनारायण शर्मा, राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता, संस्करण 1993, पृ. 738
8. संतकाव्य, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृ. 15
9. तंत्र और संत, डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, संस्करण 1975, पृ. 408
10. संतकाव्य, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृ. 33
11. वही, पृ. 34
12. वही, पृ. 34
13. वही, पृ. 35
14. वही, पृ. 37

15. वही, पृ. 38
16. हिंदी काव्य चिन्तन के मूलाधार, योगेन्द्र प्रताप सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2016, पृ. 106
17. तंत्र और संत, डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, संस्करण 1975, पृ. 408
18. दादू ग्रंथावली (सजीवन को अंग), कविता कोश
19. वही
20. कबीर ग्रंथावली, (सं) श्यामसुंदर दास, अद्वैत प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2023, पद 16, पृ. 140
21. वही, पृ. 171
22. संतकाव्य, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृ. 42
23. कबीर ग्रंथावली, (सं) श्यामसुंदर दास, अद्वैत प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2023, साखी–10, पृ. 69
24. तंत्र और संत, डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, संस्करण 1975, पृ. 417
25. वहीं, पृ. 426
26. भारतीय आलोचना शास्त्र, डॉ. राजवंश सहाय 'हीरा', बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमीय पटना, संस्करण 2014, पृ. 200
27. वही, पृ. 314
28. कबीर ग्रंथावली, (सं) श्यामसुंदर दास, अद्वैत प्रकाशन, दिल्लीय संस्करण 2023, पृ. 72
29. तंत्र और संतय डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, संस्करण 1975, पृ. 427
30. कबीर ग्रंथावली, (सं) श्यामसुंदर दास, अद्वैत प्रकाशन, दिल्लीय संस्करण 2023, पद–232, पृ. 190
31. वही, पद–8, पृ. 138
32. पद्मावत (नागमति वियोग खंड), (सं.) वासुदेवशरण अग्रवाल, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, संस्करण 2021, पृ. 349
33. संतकाव्य, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, नई दिल्ली, संस्करण 2019, पृ. 30

■

बेरोजगारी के प्रश्न और कोरोजीवी कविता

डॉ. अनिल कुमार पांडेय*

'कोरोजीवी कविता का सांस्कृतिक सन्दर्भ' लेख में लिखते हुए यह कहा था एक दिन कि "कविता या साहित्य कभी भी ऊँगली पकड़ कर चलाए भले न लेकिन ऐसा सूत्र उसमें से प्राप्त होता है कि आप (खुद के साथ) दूसरों को ऊँगली पकड़ कर रास्ता जरूर दिखा सकते हैं। कोरोजीवी कविता ने निःसंदेह कोरोना के भयंकर दौर में आपको जीवन–सूत्र दिया है। वह दृष्टि दी जिसके जरिये आप न सिर्फ लम्बी दूरी चल सकते हैं अपितु सार्थकता के साथ निर्माण के स्वप्न को हकीकत में भी बदल सकते हैं। हाँ दावे और वायदे यहाँ नहीं मिलेंगे आपको।" रोजगार का प्रश्न कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह उनसे पूछा जाना चाहिए जो बेरोजगार हैं। काम–धाम नहीं है कोई खर्चे तमाम हैं। उनसे भी पता कर सकते हैं जो उनकी यथास्थिति से परिचित हैं। दो वक्त की रोटी के लाले पड़ जाते हैं। शौक–साधन की तो बात ही जाने दीजिये। जेब में पैसे का न होना और घर–परिवार की जरूरतों का नित–प्रतिदिन सामना करना किसी असह्य पीड़ा को आत्मसात करने से कमतर तो नहीं है।

हिंदी कविता में बेगारी–बेरोजगारी का जिक्र बराबर आया है। मिलों, फैक्ट्रियों, कारखानों में दिहाड़ी पर कार्य करने वाले मजदूर, गाँवों, शहरों आदि में खटने वाले मजदूर कवियों की संवेदना के पात्र रहे हैं। छोटे से उदहारण में निराला की 'वह तोड़ती पत्थर' कविता को आप विस्मृत नहीं कर सकते हैं। 'चल रहा लकुटिया टेक' निराला की ही कविता है। इसके पहले यदि तुलसीदास के यहाँ जाएँगे तो 'जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस' कहैं एक एकन सों, 'कहाँ जाई, का करी?' जैसा यथार्थ आँखें खोल देती हैं। 'कहाँ जाइ का करी' पर थोड़ी देर ठहरिये। सोचिए कि ये प्रश्न कितनी हताशा और निराशा लिए हुए है? कितनी वेबसी और दर्द लिए हुए है? तुलसी का समय और आपका समय यहाँ आकर एकमेक हो जाते हैं। नागार्जुन द्वारा रचित 'प्रेत का बयान' में प्रेत जो कुछ कहता है गलत कहाँ कहता है? विसंगतियाँ इस कदर घेर लेती हैं कि न आप

* **संपर्क** – सहायक प्राध्यापक, हिन्दी–विभाग, समाज विज्ञान एवं भाषा संकाय, लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, पंजाब, मो–8528833317

इधर के होते हैं न उधर के।

आने की पाबंदी और जाने की बंदी जहाँ हो वहां का यथार्थ अलग हो जाता है। परिवार की रोटी का बन्दोबस्त करेंगे या फिर व्यवस्था का विरोध करेंगे? प्रश्न अनुत्तरित ही रहेगा। एक बात और है कि साधारण समय की बेरोजगारी और किसी विशेष–परिस्थिति की बेरोजगारी में भी अंतर होता है। महामारियों का इतिहास जो कुछ कहता है, गलत नहीं है। अच्छे–अच्छे सड़कों पर आ जाते हैं, वे भी जो रोजगार दे रहे होते हैं, जिनके पास नहीं है कुछ तो उनका क्या हाल होता होगा, यह पूछने की जरूरत नहीं है। खुद का भी यथार्थ देखेंगे तो स्पष्ट होता जाएगा। 'बेरोजगार मित्र की डायरी से' कविता है दिनेश कुशवाहा की। कवि एक बेरोजगार की यथास्थिति को किस तरह अभिव्यक्त करता है वह आप यहाँ देख सकते हैं–

"अभी तो मैं जवान हूँ
मुझे भी आते हैं सतरंगी सपने
पर जब देखता हूँ
धीरे–धीरे बुझ रही हैं पिता की आँखें
तो मुझे अपने रंगीन सपनों से
वितृष्णा होने लगती है।

यूँ तो रोज ही जन्मती–मरती हैं
छोटी–मोटी इच्छाएँ
कि पी लूँ एक कप कॉफी रेस्तराँ में बैठकर
धुला लूँ लॉन्ड्री में कभी रीठ गए कपड़े
बनवा लूँ एक नई कमीज।"

लेकिन फिलहाल यह सब महज स्वप्न ही रह जाते हैं। नौकरी नहीं है तो करेगा क्या कोई कुछ? इधर की कविता को लेकर यहाँ एक अलग तरीके का यथार्थ भी है। कवि के लिए 'दुःख' स्थाई विकल्प है कविता में। वह तमाम मुद्दों पर दुखी होता रहा है, होता है। बेरोजगारी जैसे प्रश्न पर उसके यहाँ मौन दिखेगा आपको। जैसे यह सरकार की जिम्मेदारी मात्र हो। राजनीतिक व्यवस्था के प्रतिरोध में तमतमाए कवियों के पास विरोध का यह विकल्प सीधे क्यों नहीं आता, आप इस पर विचार कर सकते हैं। यह सीधे शायद उनको न झकझोरती हो? उनके दिमाग पर बल न पड़ता हो? यहाँ युवा कवि गोलेन्द्र पटेल की एक कविता 'रीढ़–राग'को देखना जरूरी हो जाता है –

''जो भूमि में जीवन बोते हैं
उनके गीतों में श्रम के राग होते हैं
वे मेड और मचान पर सोते हैं
वे खेतों में अक्सर रोते हैं।

करुणा की क्यारी में कवि बहुत हैं
किन्तु, कविता किसी के पास नहीं है
क्योंकि, कर्ज के बोझ से टूटी हुई रीढ़ कह रही है
कि भाषा की आँख है भूख
और उसकी आत्मा है दुःख।" (गोलेन्द्र पटेल)

सही कहूँ जितनी जिम्मेदारी से रोजगार और भूख को केंद्र में रखकर कविताएँ लिखी जानी थीं, इधर दो तीन वर्षों में बेरोजगारी और पेपरलीक जैसे विषयों पर कवियों की संवेदनाएँ कम ही जगी हैं। समाज के बड़े हिस्से के पास कोई साधन नहीं है। किस तरह से दो वक्त की रोटी का जुगाड़ हो, यह नहीं पता है। युवा दिन–रात श्रम करके भी परिवार का खर्च नहीं पूरा कर पा रहे हैं। कवि बावजूद इन सबके ऐसे विषयों से अनभिज्ञ रह जा रहे हैं? क्या यह सच है कि उनके समय में अब रोजगार कोई समस्या नहीं है? भुखमरी, भाड़े की मजदूरी, बँधुआ मजदूरी, बेगारी आदि के दायरे में जीवन यापन करने वाले लोग क्या हमारे परिवेश से गायब हैं?

कोरोजीवी कविता में इस बात पर विचार हुआ है। कविता जिस समय एक फैशन की तरह विकसित हो रही हो वही कोरोजीवी कविता के दायरे में कवि सुरक्षित जोन से बाहर निकल कर जोखिम लेता है और पाता है कि –

"इधर, अभी
पेट की आग व अन्न का
समीकरण है अनसुलझा हुआ।

कलमुँही महामारी की आड़ में
कामवाली की पगार और
सूरते राजगीर की दिहाड़ी को
अड़ंगी लगी है जबर्जस्त" (बल्वेन्द्र सिंह)

इधर महज कवि की वेबसी नहीं है। एक सम्पूर्ण लोक की वेबसी है। एक रोजगार संपन्न होते हुए जब कवि की यथास्थिति ऐसी है तो सोचो कि कवि जब कामवाली और सूरते राजगीर की दिहाड़ी देने में असफल हो रहा है तो जो दिहाड़ी पर है और जो कामवाली है उसकी क्या स्थिति होगी? कहाँ से घर का खर्च निकल रहा होगा उसके, कहाँ रोजमर्रा की जिन्दगी की जरूरतों को पूरी करते होंगे ऐसे लोग? प्रश्नों की संख्या बढ़ती जाती है और कवि की पक्षधरता और कविता का वास्तविक संघर्ष यहाँ से परिभाषित होता जाता है। यह भी समझ सकते हैं कि जिनके पास यह साधारण सी नौकरी भी नहीं है उनका क्या होता होगा? किस तरह से होंगे उनके बाल–बच्चे और किस तरह से पूरी होती होंगी उनकी जरूरतें–'बेरोजगार पिता के बेटे' कविता में आलोक मिश्र लिखते हैं कि–

"बेरोजगार पिता का बेटा
देखता है रोज एक सपना
कि उसके पिता जा रहे हैं काम पर
और लौट रहे हैं वहाँ से
कंधे पर लटकाये एक भरा हुआ झोला।

बेरोजगार पिता का बेटा
लहककर लपकता है उस तक
पर वह झोला है या कोई झोल
कि लपकते ही वह और सपना
दोनों हो जाते हैं गोल।"

दरअसल ऐसे बच्चों का कोई संसार इतना सुखद नहीं होता। कुशल है कि वह बच्चे हैं और कुछ समय के बाद भूल जाते हैं लेकिन पिता की यथास्थिति कैसी होगी? विचार इस पर किया जाना चाहिए। कोरोजीवी कविता में यथार्थ शिद्दत से अभिव्यक्त होता है। बगैर किसी घुमाव के और बगैर किसी लाग–लपेट केद्य जितना यथार्थ आपको इस कविता में मिलेगा, कहीं और नहीं देखेंगे।

2

कोरोना समय का यथार्थ विचलित करता है। डराता है। जब मैं कोरोजीवी कविता का अध्ययन करता हूँ तो इस समस्या ने कवियों को अंदर तक झकझोरा है। वे युवाओं की बदहाली और परिवार के बिखराव देखकर विलख पड़े। भूख, प्यास, असीम पीड़ा, वेदना आह! बहुत कुछ। श्रीप्रकाश शुक्ल सरीखे कवि लिए हर क्षण दुखद है। 'इंतजार' कविता में एक जगह वह लिखते हैं–

"हाय कैसे कहूँ कि हर क्षण एक बीतता हुआ क्षण है
और जो बीत रहा है
वह किसी अनबीते का महज इंतजार लगता है
जिसमें सीझती हुई करुणा
गुजरते समय की उदासी बन
कंठ में अटक सी गई है!" (श्रीप्रकाश शुक्ल)

हलक तो हर किसी के सूखे ही रहे। यह सच है कि सरकारें जहाँ विज्ञापन में 'सब अच्छा है' का स्वप्न दिखा रही थीं, कविगण अच्छा होने, दिखने और करने के बीच के फासले को महसूस कर रहे थे। उन्हें किसी भी हालत में खतम करने में तल्लीन थे। उनके सामने एक ऐसी लाचार–वेबस–लुटी–पिटी युवा पीढ़ी थी जिनके पास हजारों–हजार योग्यता होने के बावजूद रोजगार के अभाव में या तो दम तोड़ रहे थे या फिर मरते–घिसटते आत्मीय लोगों को यथावत देखने पर विवश थेद्य 'कोरोना फैल रहा है' कविता में विनोद पदरज लिखते हैं कि–

"कोरोना फैल रहा है
लोग मर रहे हैं
डॉक्टर, नर्से, पुलिसकर्मी संक्रमित हो रहे हैं
रोजगार बंद हैं
मजूर सड़कों पर हैं
सबको गाँव जाना है
कई भूख से मर गए हैं
कई ट्रेन से कुचल गए हैं
उधर गैस रिसी है
कई दम तोड़ चुके हैं
कई भर्ती हैं
इधर फिर से घाटी में
जवान हताहत हो रहे हैं... (विनोद पदरज)

यह चित्र एक साथ कई तरह की विसंगतियों का यथार्थ है। दिमाग—बंद यथास्थिति का चित्रण मात्र नहीं है यह। भूख, बेबसी, बेरोजगारी आदि तो है ही वह आत्मपीड़ा भी है जिसके दायरे में कोरोना विकसित होता है और लगभग मानवीयता को संकट में डालता है। फिलहाल देश में यह संकट कोई नया नहीं है। भूख यहाँ की स्थायी विशेषता रही है। हम इससे निजात पाए भी नहीं थे कि 'आत्मनिर्भर' देश की परिकल्पना का स्वप्न दे दिया गया। कवि श्रीप्रकाश शुक्ल की एक कविता है 'रोटी' इस कविता में वह 'आत्म निर्भर होता देश अबध रोटियों से आगे निकल चुका है!" का यथार्थ रखते हैं—

"रोटी का बिखरना
नहीं है कोई घटना

जनता अभी भी सड़क पर है
और उसके पलट प्रवाह के बीच
देश आत्म निर्भर हो रहा है।" (श्रीप्रकाश शुक्ल)

रोटी जिस तरह से बिखरी हुई है वह बिखरी हुई मनुष्यता का हवाला दे रही है। आत्मनिर्भर की संकल्पना पर हँस रही है। यथार्थ को दरअसल झुठलाया नहीं जा सकता है लेकिन उसके उलट प्रवाह में स्वप्न को उछाला जा सकता है। सत्ता महज स्वप्न उछालती है। जनता उस स्वप्न के दायरे में स्वयं को देखने के लिए विवश होती है। यह विवशता कहीं और से नहीं आई थी। कवि जानता है। कविताओं में दर्ज है। कोरोजीवी कविता इसी अर्थ में जिम्मेदार है। एक समझ से परिपूर्ण ईमानदार नागरिक की तरह। कौन घर से बेघर हुआ, किसकी नोकरी छूटी, किसको बैंक ने ईएमआई एक्सटेंड करने के एवज में ठगा, किसकी ईएमआई नहीं गयी और वह डिफाल्टर हो गया या कर दिया गया, खाने—पीने

की असुविधा में ईएमआई की चिंता में युवा वर्ग कितना अधिक तबाह हो होता रहा, यह सब कवि को पता है। संजय कुंदन के यहाँ एक कविता है 'अमरता'। इस कविता में एक ही कामगार है जो वास्तविकतः पूरे परिवार का खर्च चलाती है। गुंडों के हाथ लगने पर स्वयं को बलात्कृत होने के लिए यह कहते हुए तैयार करती है कि–

"मेरी ही नौकरी से चलता है घर
पिताजी दो साल पहले गुजर गए
भाई अभी स्कूल में ही है
बहन बॉक्सर बनना चाहती है
बहुत पैसा लगता है
उसकी ट्रेनिंग में
मां के घुटनों में दर्द रहता है
जल्दी ही ऑपरेशन कराना पड़ेगा"

निहायत ही असहनीय पीड़ा है ये। ऐसा दर्द है जिसे कहा नहीं जा सकता है महज महसूस जा सकता है। संजय कुंदन जैसे कवि से यह इसलिए संभव हुआ क्योंकि ये आम जीवन के बीच गंभीरता से रह रहे हैं। उनके मुद्दे उठा रहे हैं और उनके बीच रहते हुए कविता को लिख रहे हैं।

पता है कोरोजीवी कवि को कि कितने मजदूर नौकरी से निकाल दिए गये। कितने की सैलरी कम कर दी गयी। कितने की तनख्वाह रोक दी गयी और आज तक उसका कोई हिसाब–किताब नहीं किया गया। कोरोना समय की एक खोज 'वर्क फ्रॉम होम' एक अलग तरह की समस्या लेकर आई। इस प्रक्रिया ने लोगों से काम खूब लिया लेकिन घर के नाम पर उनकी सैलरी बड़ी मात्रा में कट कर दी। यह अमूमन सबको पता है। जिनकी सरकारी नौकरियां थीं उनकी तो खैर सब ठीक–ठाक लेकिन जो प्राइवेट नौकरी में थे उनका घर–बार चलना मुश्किल हो गया। यहाँ संजीव कौशल की एक कविता अक्सर ध्यान खींचती है जो अकादमिक जगत की विसंगतियों को लेकर लिखी गयी है। 'एड–हॉक।' यह इस हद तक यथार्थ है कि अकादमिक जगत का एक हिस्सा इस विसंगति को सहने के लिए विवश है। नौकरी पर लगे व्यक्ति को यह नहीं पता होता है कि वह कब निकाल दिया जाएगा। 10–15 वर्ष से अध्यापनरत लोगों को उसी महाविद्यालय आदि में पक्के होने की उम्मीद होती है लेकिन फिलहाल ऐसा कुछ नहीं होता और वे बाहर का दिखा दिए जाते हैं। पढ़िये ये कविता और रोजगार से बेरोजगार होने की विसंगति को महसूसिये।

"एड–हॉक
पत्नी रात–भर जागती है
उसे बार–बार छू कर देखती है
सांसें टटोलती है

उसने कुछ खा तो नहीं लिया
वह जिंदा तो है
उसे हर वक्त यही चिंता रहती है।

उसे घर से नहीं निकलने देती
दिन भर समझाती है
नौकरी चली गई इसका उसे भी गम है
मगर परिवार को उसकी जरूरत है।

वे कुछ भी कर लेंगे
मगर जिंदा रहेंगे।

चौदह साल उसने जहाँ पढ़ाया
जहाँ रोज जाता रहा
जिसके लिए सब कुछ भूल गया
उस विद्यालय पर आज उसका कोई हक नहीं रहा
एक हत्यारी लिस्ट ने
सब कुछ छीन लिया।

एड–हॉक एक सजा है
सूली पर लटकी कजा है।"

"वे कुछ भी कर लेंगे / मगर जिंदा रहेंगे" जैसे शाश्वत सत्य पर अडिग ऐसे बहुत–से लोग महज इसलिए भी निकाल दिए गए क्योंकि मजदूरों की संख्या अधिक थी और काम उनके पास नहीं था। ये हाल विद्यालयों / महाविद्यालयों का था तो सोचिए कि मिलों / फक्ट्रियों / कारखानों आदि में कार्य करने वालों की क्या गति होती रही होगी? अभी भी बहुत–से संस्थान 'वर्क फ्रॉम होम' के कॉन्सेप्ट पर ही कार्य करवा रहे हैं। वे आज भी सैलरी कुछ हिस्सा काट रहे हैं। परिवार का कौन–सा सदस्य महज पैसा न होने की वजह से गुजर गया, किसके घर का बच्चा तीन दिन से भूखा है और किसी रोजगार संपन्न परिवार का न होने की वजह से दम तोड़ गया, यह सब कविता में दर्ज है। एक जगह पंकज चौधरी अपनी कविता 'कोरोना और दिहाड़ी मजदूर' में कोरोना समय का वर्तमान और उसके बाद की भयावह स्थिति पर विचार करते हुए लिखते हैं–

"परदेस में उनके हाथों को जब कोई काम ही नहीं रहा
घरों से उनको बेघर ही कर दिया गया
राशन की दुकानें जब खाक ही हो गईं

तब वे करें तो क्या करें
जाएँ तो कहाँ जाएँ।

वे उसी वतन को लौट रहे हैं
जिनको मुक्ति की अभिलाषा में छोड़ना
उन्हें कतई अनैतिक–अनुचित नहीं लगा था
यह जानते हुए भी
फिर वहीं लौट रहे हैं
कि वह उनके लिए किसी नरक के द्वार से कम नहीं है
उन्हें पता है कि
जिनसे मुक्ति के लिए उन्होंने गाँवों को छोड़ा था
वे उनसे इस बार कहीं ज्यादा कीमत वसूलेंगे
उन्हें उनकी मजूरी के लिए
दो सेर नहीं एक सेर अनाज देंगे
उनके जिगर के टुकड़ों को
बाल और बंधुआ मजदूर बनाएँगे
उनकी बेटियों–पत्नियों को दिनदहाड़े नोचेंगे–खसोटेंगे
शिकायत करने पर
रस्सा लगाकर
ट्रकों में बाँधकर गाँवों में घसीटेंगे।"

जिन विसंगतियों से ऊबकर आम आदमी शहरों की तरफ पलायन किया था उन्हीं विसंगतियों में उनकी फिर वापसी हो रही है। जो सक्षम तब थे वह अपनी तरह से सक्षम अब भी हैं। अभी न तो उनके उन्माद कम हुए हैं और न ही तो उनकी जड़ताएँ। बेचौनियाँ बढ़ी जरूर हैं। ऐसे में कोई वापस लौटकर खाली हाथ जाता है गाँव, उसकी यथास्थिति पर पंकज चौधरी की यह कविता पूरी तरह बेबाक है।

फिर कह रहा हूँ कि जहाँ सभी अपनी भूमिका निर्वहन करने में नाकाम रहे, कवि एवं कविता ने अपनी जिम्मेदारी निभाई। विपत्ति के दिनों में दूर से आवाज देने वाला भी बड़ा हमदर्द होता है यहाँ तो कविता का संग–साथ पूरी गम्भीरता से मिला। कवि संग–साथ ही नहीं रहा, व्यवस्थागत ढांचे में बदलाव के लिए प्रतिरोध का विकल्प भी सर्जित किया। यह वही सर्जना है जिसके दम पर श्मशान में तब्दील हो चुके परिवेश को पुनः ऊर्जस्वित किया। कोरोजीवी कविता की सबसे बड़ी भूमिका यह भी रही कि मुक्ति और युक्ति का संकल्प लेकर आई वह इन दिनों। यह ऐसा संकल्प है जिसमें जन की भूमिका विशेष हो उठती है और समाज अपनी जिम्मेदारी का सार्थक निर्वहन करना शुरू कर देता है।

■

साहित्य चिंतन

लघु पत्रिकाओं के अस्तित्व का प्रश्न

पंकज कुमार चौधरी*

शोध सार : सुरेंद्र स्निग्ध ने लघु साहित्यिक पत्रिकाओं के अस्तित्व के सम्मुख उत्पन्न अनेक प्रश्नों के बावजूद कई पत्रिकाओं का संपादन बड़ी मजबूती से किया। उन्होंने प्रगतिशील, जनवादी और सर्वहारा संस्कृति के सरोकारों तथा दृष्टि से बगैर कोई समझौता किए लघु पत्रिका आंदोलन की आत्मा को जीवित रखा। हिंदी की लघु पत्रिका आंदोलन के इतिहास में सुरेंद्र स्निग्ध का नाम वैसे संपादकों के रूप मे सम्मान के साथ लिया जाएगा जिन्होंने रचनाओं के कंटेंट और चयन में हमेशा समावेशी और सामाजिक न्याय का परिचय दिया और आम–अवाम की आवाज को बुलंद किया। उन्होंने पत्रिकाओं के संपादन में जिस सर्वहारा और जनवादी संस्कृति की वकालत की उससे उनके उन्नत संस्कृति बोध का अहसास होता है।

बीज शब्द : प्रगतिशील, जनवादी, सर्वहारा, समावेशी, लोकोन्मुख, संस्कृति, समकालीन, इतिहास।

आज हिंदी साहित्य में दो सौ से ज्यादा लघु पत्रिकाएं निकल रही हैं। इनमें से कुछ मासिक हैं, कुछ द्वैमासिक, कुछ त्रैमासिक हैं और अधिकांश अनियतकालीन। इनके महत्व का अंदाजा हम इस बात से लगा सकते हैं कि समकालीन हिंदी साहित्य का बहुलांश सबसे पहले इन्हीं लघु पत्रिकाओं में छपता है। पुस्तक के रूप में तो वह बाद में प्रकाशित होता है। लेखकों को लेखक होने का प्रमाण–पत्र या उसकी पहली पहचान यही लघु पत्रिकाएं प्रदान करती हैं। बड़े लेखक या प्रकाशक नए लेखकों को यह सलाह देते नजर आते हैं कि पहले पत्रिकाओं में छपो, बाद में पुस्तक छपवाओ। उनके कहने का मतलब यह होता है कि जब तक पत्रिकाओं से अपनी पहचान नहीं बनाओगे, तब तक पुस्तकों का दरवाजा खुलना मुश्किल है।

लघु साहित्यिक पत्रिकाओं का महत्व यह है कि आज हिंदी के अधिकांश स्थापित और महत्वपूर्ण लेखकों ने सालों तक इन्हीं पत्रिकाओं में लिखकर लेखक के रूप में अपनी पहचान और नाम कमाया। इसलिए समकालीन हिंदी साहित्य

* **संपर्क** – शोधार्थी, 348/4, दूसरी मंजिल, गोविंदपुरी, कालकाजी, नई दिल्ली– 110019
मोबाइल– 9910744984, 9971432440

के इतिहास को यदि लघु पत्रिकाओं का इतिहास कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

लघु–साहित्यिक पत्रिकाओं के महत्व का अंदाजा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि आज व्यक्ति और संस्थाएं सत्ता की राजनीति करने में ही अपनी भलाई समझती हैं लेकिन दूसरी ओर ये पत्रिकाएं हैं जो निरंतर निर्भीक, जनोन्मुखी और प्रयोगधर्मी बनकर सत्ता और व्यवस्था के खिलाफ आम लोगों की आवाज बनी हुई हैं। कहने का मतलब यह है कि जो जनोपयोगी कार्य बड़ी व्यावसायिक पत्रिकाएं नहीं कर सकतीं या नहीं करना चाहतीं वह सब ये पत्रिकाएं बिना किसी स्वार्थ या लाभ के कर रही हैं।

लघु पत्रिकाओं का इतना निर्विवाद महत्व होते हुए भी अगर वह अस्तित्व के प्रश्न से गुजर रहा है तो उसके कई कारण हैं। पहला और सामान्य कारण जो सीधे–सीधे समझ में आता है वह है आर्थिक चुनौतियां। आर्थिक चुनौतियां तब पेश आती हैं जब सरकारी और कॉरपोरेट घरानों से विज्ञापन मिलना बंद हो जाता है। सरकार और कॉरपोरेट कभी भी यह नहीं चाहते कि उनके धन से निकली पत्रिकाओं में व्यवस्था के खिलाफ कोई सवाल पैदा किया जाए। ऐसी स्थिति में इन पत्रिकाओं का निकलना मुश्किल हो जाता है क्योंकि उन्हें अपनी निर्भीक आवाज की बिना पर ऐसे समझौते नामंजूर होते हैं। इसलिए देखा गया है कि वही लघु साहित्यिक पत्रिकाएं लंबे समय तक निकलती रही हैं जिनके संपादक या तो खुद साधनसंपन्न रहे हों या पाठक और जनता से चंदा कर रहे हों या व्यक्तिगत प्रयासों से पत्रिका निकालने का साहस कर रहे हों। लघु साहित्यिक पत्रिकाओं का आर्थिक पक्ष संकट का सबब बनकर उनके संपादकों के समक्ष हमेशा मौजूद रहा है। 'बनास जन' के संपादक पल्लव अपने एक इंटरव्यू में रीता दास राम से कहते हैं– ''हम जानते हैं कि साहित्य अपने स्वभाव से ही व्यवस्था का आलोचक होता है तो इसका आशय स्पष्ट है कि आप व्यवस्था के पक्ष में पत्रिका नहीं निकाल रहे हैं। तो आप सुविधा की कल्पना कैसे कर सकते हैं? सुविधा की कामना ही है तो साहित्य छोड़कर कुछ और करना चाहिए। फिर भी आपके सवाल की गहराई में जाने की कोशिश करता हूं। मैंने विज्ञापन की लालसा कभी नहीं की बल्कि यह चाहा कि पाठकों से मिलने वाली राशि ही इतनी आ जाए कि पत्रिका आत्मनिर्भर हो जाए। दूसरी बात यह कि में कम से कम खर्च में काम करने में विश्वास रखता हूं क्योंकि लागत कम होगी तभी पत्रिका जीवित रह पाएगी। आत्मनिर्भर होने जैसी स्थिति तो नहीं आई है तब भी मैं विज्ञापन के लिए परेशान नहीं होता।''

हिंदी में लघु पत्रिकाओं का एक लंबा इतिहास रहा है। भारत को स्वतंत्रता मिलने से पहले चांद, माधुरी, कर्मवीर, प्रभा, सरस्वती, साहित्य संदेश, इंदु, मतवाला या मर्यादा जैसी पत्र–पत्रिकाएं निकल रही थीं और सबका स्वरूप कमोबेश लघु पत्रिकाओं का था। इन पत्रिकाओं का उद्देश्य व्यापक होने से इन्हें

आर्थिक सहयोग भी मिलता था। लेकिन देश को जब आजादी मिली, तो कॉरपोरेट घरानों ने अपने आर्थिक लाभ को ध्यान में रखते हुए पत्रिकाएं शुरू कीं। ऐसे में लेखकों ने महसूस किया कि बड़ी पत्रिकाएं अपने वैचारिक दबावों के कारण केवल विशेष प्रकार की रचनाएं छापती हैं, जिनका जन–सरोकार से उतना वास्ता नहीं होता, जितना होना चाहिए या जनता चाहती है। ऐसे में लघु पत्रिका आंदोलन की जरूरत महसूस हुई, जिसने कविता, कहानी के क्षेत्र में ऐतिहासिक उपलब्धि हासिल की। प्रसिद्ध कथाकार–उपन्यासकार और नाटककार असगर वजाहत कहते हैं– ''अपनी बात कहने और लोगों तक पहुंचाने के लिए लघु पत्रिका आंदोलन की शुरुआत हुई जिसका एक बड़ा आधार वैचारिक भी था। वामपंथी रुझानों से लैस पत्रिकाओं के अलावा कुछ पत्रिकाएं विभिन्न साहित्यिक आंदोलनों जैसे अकविता/अकहानी आदि पर भी केंद्रित थीं। साठोत्तरी कहानी के दौर में ऐसी कई महत्वपूर्ण पत्रिकाएं निकली थीं जिन्होंने आंदोलन को स्थापित करने का काम किया था क्योंकि उन दिनों नई कहानी की तूती बोलती थी और उससे अलग या विरोधी स्वर के लिए बड़ी पत्रिकाओं में कोई जगह न थी।''[2]

ये लघु पत्रिकाएं कॉरपोरेट घरानों की पत्रिकाओं, सत्ता प्रतिष्ठानों और यथास्थिति के विरोध में 'प्रतिरोध की जमीन' मुहैया कराती थीं और व्यवस्था परिवर्तन इनका मुख्य उद्देश्य था। ये पत्रिकाएं उन तक भी पहुंचती थीं जो लेखक नहीं थे लेकिन व्यवस्था परिवर्तन में उनकी भूमिका असंदिग्ध थी। पहले ये पत्रिकाएं सामाजिक सरोकार के तहत मिशनरी भाव से निकला करती थीं। संपादक और उनमें लिखने वाले लेखकों तथा उनसे जुड़े लोगों में एक टीम भावना होती थी जिसकी बदौलत ये पत्रिकाएं आराम से निकलती थीं। लेकिन धीरे–धीरे सब कुछ बदलता गया और आर्थिक दबाव इतना बढ़ा है कि इनका प्रकाशन अब बमुश्किल होता जा रहा है। बड़े और स्थापित लेखक इन लघु–साहित्यिक पत्रिकाओं में तभी लिखने को तैयार होते हैं जब उन्हें उनका पारिश्रमिक मिलता है। वे खुलकर पारिश्रमिक की मांग करते हैं और तर्क देते हैं कि अमुक पत्रिका ने उन्हें इतना पारिश्रमिक दिया है। ऐसे में लघु पत्रिकाओं को निकालना और भी मुश्किल होता जा रहा है क्योंकि पत्रिकाओं में जब स्तरीय रचनाओं का प्रकाशन ही नहीं होगा तब फिर उनको निकालने का औचित्य ही क्या है।

आज बड़ी संख्या में महत्वपूर्ण ऑनलाइन पत्रिकाएं भी निकल रही हैं, जिनमें वेबसाइट्स, ब्लॉग्स आदि प्रमुखता से आते हैं। कोविड के बाद इनका महत्व बहुत बढ़ा है। इनमें छपने के लिए इंतजार भी नहीं करना पड़ता और स्तरीय रचनाएं लिखते ही छप जाती हैं और वे पूरी दुनिया के पाठकों तक पहुंच जाती हैं। लेकिन अधिकांश ऑनलाइन पत्रिकाओं के साथ भी वही दिक्कत है जो प्रिंट की लघु पत्रिकाओं के साथ है। ये भी अपना 'ई–मेल', पत्राचार का पता और मोबाइल फोन वगैरह का उल्लेख नहीं करतीं जिनके जरिए इनसे सम्पर्क किया जा सके। ऐसे में पाठकों के लिए पत्रिका प्राप्त करना नामुमकिन–सा हो जाता

है। यहां यह उल्लेख करना जरूरी है कि हिंदी के गंभीर और जागरुक पाठक विदेशों में खूब हैं और वे इन पत्रिकाओं से जुड़ना चाहते हैं।

असगर वजाहत इस बाबत कहते हैं– ''अभी हाल में ही लंदन से पंजाबी और हिंदी के लेखक केसी मोहन दिल्ली आए हुए थे। उन्हें जब हिंदी की लघु पत्रिकाओं के बारे में जानकारी मिली तो बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने माना कि लंदन में रहते हुए उन्हें यह नहीं पता था कि हिंदी में लघु पत्रिका आंदोलन है और इतनी महत्वपूर्ण पत्रिकाएं छपती हैं। पत्रिकाओं को देखने के बाद उनकी यह प्रतिक्रिया थी कि इन पत्रिकाओं में वे आवश्यक जानकारियां नहीं हैं जो विदेशों में रहने वाले हिंदी पाठकों के लिए आवश्यक हैं। उदाहरण के लिए कुछ विदेशी करेंसी यानी डॉलर या पाउंड में अपनी कीमत नहीं छापतीं। यह भी पता नहीं चलता कि किस प्रकार की डाक से संसार के किस भाग में पत्रिका भेजने पर क्या खर्च आएगा। कुछ पत्रिकाएं अपनी 'बेवसाइट' या 'ई–मेल' का उल्लेख भी नहीं करतीं जो आज की दुनिया में बहुत ही आवश्यक है। ऐसी भी लघु पत्रिकाएं हैं जो अपना टेलीफोन नम्बर तक प्रकाशित नहीं करतीं। ऐसी स्थिति में विदेश में रहने वाले हिंदी पाठकों के लिए पत्रिका प्राप्त करना असंभव–सा हो जाता है।''[3]

इसलिए हिंदी की लघु पत्रिकाओं को चाहिए कि वे डिजिटल युग के हिसाब से भी अपने को बदले। ताकि उनकी पहुंच वेबसाइट, ब्लॉग और सोशल मीडिया के अन्यान्य प्लेटफॉर्म के माध्यम से पूरी दुनिया से हो सके और यह तभी संभव होगा जब वे सही–सही पत्राचार का अपना पता, ईमेल और मोबाइल नंबर की जानकारी पाठकों को उपलब्ध कराएंगे। इससे उन्हें लघु पत्रिका आंदोलन की भावना को वैश्विक स्तर पर फैलाने में भी मदद मिलेगी और नया पाठकवर्ग भी मिलेगा।

हिंदी की लघु पत्रिकाओं के सामने अपने अस्तित्व को बचाने के कई सवाल हैं। इसके बावजूद हंस, कथादेश, तद्भव, समयांतर, उद्भावना, सत्राची, देसज, मंतव्य, समकालीन जनमत, समालोचन, जानकी पुल, पहली बार आदि पत्रिकाएं नियमित रूप से निकल रही हैं और इन्हें अपने समय की श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण रचनाओं को प्रकाशित करने का श्रेय प्राप्त है। इन पत्रिकाओं ने अपने जनोन्मुखी सरोकारों को बरकरार रखा है और अपने तेवर से कोई समझौता नहीं किया है। देश को स्वतंत्रता मिलने के बाद से लघु पत्रिकाओं के निकलने का सिलसिला जारी है। इस बाबत पल्लव बहुत आशान्वित होकर कहते हैं– ''जहां तक प्रभाव डालने की बात है तो फिर यही कहूंगा कि यह सवाल पाठकों से ही पूछा जाना चाहिए। लघु पत्रिका आंदोलन फीनिक्स पक्षी की तरह है जिसका मिथक कहता है कि फीनिक्स का जन्म उसकी राख से ही होता है, तो आप देख सकते हैं कि एक लघु पत्रिका बंद हुई तो चार नई लघु पत्रिकाएं निकलने लगीं। लघु पत्रिकाओं का निकलना और पाठकों तक पहुंचना मेरे विचार से स्वयं में एक संदेश है।''[4]

लघु पत्रिकाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि अगर इन्हें अपना अस्तित्व बचाना है तो समय के अनुसार बदलना होगा। पहले की मिशनरी भावना के साथ–साथ अब व्यावहारिक रास्ता भी अख्तियार करना होगा। लघु पत्रिकाओं की पहली जरुरत है अपनी स्वायत्तता और प्रतिबद्धता की रक्षा करते हुए सत्ता और बाजार के प्रभाव में नहीं आएं। उन्हें नए पाठकों तक पहुंचने के लिए अपने को ऑनलाइन और डिजिटल तरीके से जोड़ना होगा, ताकि वे जनता की आवाज को और पुरजोर अंदाज में पूरी दुनिया में फैला सकें।

समावेशी दृष्टि के संपादक सुरेंद्र स्निग्ध

कवि, उपन्यासकार, आलोचक, संस्मरणकार और संपादक सुरेंद्र स्निग्ध कई पत्रिकाओं के संपादन से जुड़े रहे। उनके संपादन में मुख्य रूप से दो पत्रिकाओं के कुछेक अंक सामने आए जिनमें 'नई संस्कृति' और 'उन्नयन' का बिहार कवितांक हैं। वे इसके अलावा भारती, गांव–घर, प्रगतिशील समाज, अयस्टर और शब्दिता जैसी हस्तलिखित और फोल्डरनुमा पत्रिकाओं के संपादन से भी सम्बद्ध रहे। इन पत्रिकाओं के एकाध अंक ही सामने आ पाएं और ये पटना विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग और बीएन कॉलेज के छात्र समूह द्वारा निकाली जाती थीं। सुरेंद्र स्निग्ध इन पत्रिकाओं के सूत्रधार, मार्गदर्शक, संरक्षक, सलाहकार और संपादक सब कुछ हुआ करते थे।

सुरेंद्र स्निग्ध ने भारती, गांव–घर, प्रगतिशील समाज, अयस्टर और शब्दिता जैसी पत्रिकाओं से जुड़कर उन्होंने वह काम किया जिसे मौजूदा दौर के संपादक–संस्कृतिकर्मी अपना दायित्व नहीं समझते। उन्होंने इन पत्रिकाओं के जरिए एक ओर जहां कॉलेज और विश्वविद्यालय में साहित्यिक और सांस्कृतिक बोध को जागृत करने तथा एक पर्यावरण विकसित करने की कोशिश की, वहीं दूसरी ओर उन्होंने वहां से प्रतिभाओं की भी खोज की। उनकी प्रतिभा खोज अभियान का इतना सुखद परिणाम बाद में निकलकर सामने आया कि जिन छात्रों और छात्राओं ने इन पत्रिकाओं से अपने लेखन की शुरुआत की, उनमें से अनेक आज महत्वपूर्ण कवि, कथाकार, संपादक और आलोचक के रूप में समकालीन हिंदी साहित्य में समाहत हैं।

'नया सांचा' जैसी पत्रिका के संपादन से जुड़े रहे कवि, कहानीकार और विचारक राधेश्याम मंगोलपुरी कहते हैं– ''स्निग्ध जी कॉलेज की एक पत्रिका 'भारती' के संपादक थे। उन्होंने मुझसे भी रचनाएं मांगीं। मैंने उन्हें एक कविता और एक कहानी दी। इस पत्रिका में मेरी दोनों रचनाएं छपीं और मैं एक साथ कवि और कहानीकार के रूप में हिंदी पाठकों के सामने आया। मैं लिखता तो पहले से रहा हूं– आठवीं–नौवीं क्लास में था तब से ही, लेकिन मेरी रचनाएं कभी किसी पत्र–पत्रिका में छपी नहीं थी, कॉपी या डायरी में ही पड़ी रहीं। सुरेंद्र स्निग्ध ने मुझे सबसे पहले छपने का मंच प्रदान किया। यह मेरे लिए गौरव की बात थी कि मुझे साहित्यिक पहचान मिली।[5]

सुरेंद्र स्निग्ध 'भारती' में चर्चित और वरिष्ठ रचनाकारों के साथ–साथ नए रचनाकारों को भी छापते थे। इससे नए रचनाकारों को एक ओर जहां वरिष्ठ रचनाकारों से बहुत कुछ सीखने को मिलता था, वहीं दूसरी ओर इससे उनका प्रोत्साहन भी होता था और वे गौरवान्वित महसूस करते थे। नौजवानों और युवा रचनाकारों को सही दिशा और राह दिखाना सुरेंद्र स्निग्ध का प्रमुख वैचारिक उद्देश्य था।

वर्ष 1980–81 में पकाशित 'भारती' के अंक पर आलोचक और संपादक सुधीर सुमन टिप्पणी करते हैं– ''भारती बीएन कॉलेज के हिंदी विभाग की ओर से प्रकाशित हुई थी। लेकिन वह अंक इस मायने में अब भी विशिष्ट है कि एशिया के किसी विश्वविद्यालय के किसी कॉलेज से निकलने वाली एक पत्रिका ने देश–दुनिया के बड़े प्रगतिशील विचारकों और साहित्यकारों से संबंधित सामग्री छापी। खुद महेश्वर ने नचिकेता के साथ मिलकर 'प्रेमचंद के अंतर्विरोधों के बारे में' शीर्षक से एक विचारोत्तेजक लेख लिखा। वह लेख अब भी प्रासंगिक है। काफी मेहनत और शोध से लिखे गए राणा प्रताप के लेख 'पूंजीवादी प्रेस और उसके अश्लील प्रकाशन' की प्रासंगिकता अब भी बनी हुई है। रामकृष्ण पांडेय के लेख का शीर्षक है– पूंजीवादी प्रेस और प्रगतिशील आंदोलन। कहने का तात्पर्य है कि 'भारती' ने न सिर्फ प्रगतिशील–जनवादी कंटेंट को छापा बल्कि पूंजीवादी प्रेस के बरक्स प्रगतिशील जनवादी साहित्य और आंदोलन को विकसित करने की जरुरत पर भी जोर दिया।''[6]

'भारती' का यह अंक इतना महत्वपूर्ण और समृद्ध है कि इसे सहेजकर रखा लोगों ने। हिंदी की लघु–साहित्यिक पत्रिकाओं का जब भी इतिहास लिखा जाएगा इसकी विशेष रूप से चर्चा होगी। इसमें दुनिया के महान कवियों की कविताएं हैं। पाब्लो नेरुदा, ब्रेख्त, एरिक वाइनर्ट, सईद सुल्थानपुर, लैंग्स्टन ह्यूज आदि की कविताएं हमें संवेदित करती हैं। इसी अंक में चेखव और प्रेमचंद की महान कहानियों 'नकाब' और 'मुक्तिमार्ग' को भी प्रकाशित किया गया है। इस अंक में 'पिता के नाम कार्ल मार्क्स का खत' और फिदेल कास्त्रो का प्रसिद्ध बयान 'न्याय का अपराध' संपादक सुरेंद्र स्निग्ध की वैचारिक दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

सुरेंद्र स्निग्ध का संपादकीय उनकी वैचारिक दृष्टि, जनोन्मुखता और उनके सरोकार का पता देने के लिए पर्याप्त है। उनके संपादकीय बताते हैं कि साहित्य का पहला और बड़ा लक्ष्य है सामाजिक जागरुकता पैदा करना। सामाजिक जागरुकता और गतिशीलता के उद्देश्य से उन्होंने पत्रिकाओं का संपादन किया।

सुधीर सुमन का मंतव्य है– ''बेशक सूरत बदलने की कोशिश का ही नतीजा था 'भारती' का वह अंक, जिसके 'संपादक के नोट्स' में प्रेमचंद जन्मशती पर उन्हें याद करते हुए सुरेंद्र स्निग्ध ने बेबाकी के साथ लिखा– ''सारे हिंदुस्तान को स्वीकार करना पड़ा है कि प्रेमचंद से बढ़कर मेहनतकश जनता का सबसे

सच्चा हमदर्द लेखक आजतक दूसरा पैदा न हुआ। प्रेमचंद साहित्य के दस हजार पन्नों में अंकित जनवादी साहित्य की महान विरासत तमाम शताब्दी समारोहों को चकाचौंध को धत्ता बताते हुए ऐलान कर रही है कि प्रेमचंद ने जिस शोषित–पीडित जनता के जीवन और मुक्ति–संघर्ष का प्रामाणिक और विश्वसनीय चित्रण किया है, उस शोषित–पीड़ित जनता के जीवन और मुक्ति–संघर्ष का सक्रिय भागीदार बनकर ही कोई व्यक्ति प्रेमचंद को प्रामाणिक और विश्वसनीय श्रद्धांजलि अर्पित कर सकता है।'' संपादकीय के दूसरे हिस्से में उन्होंने जो लिखा, वह उस समय जितना प्रासंगिक था, आज भी उतना ही प्रासंगिक है। उन्होंने लिखा– 'बड़ी विडंबना है कि हमारे देश में चलने वाली हर सरकार लोकतंत्र की परमपवित्र रामनामी से लैस होकर, व्यापक मेहनतकश जनता की कृपा से, गद्दी पर बैठती है और फिर राजनीति के रंगमंच पर ऐसा ''एब्सर्ड ड्रामा चालू हो जाता है, जिसके तहत 'जनता के प्रतिनिधि जनता की लाठी जनता की भलाई के बहाने जनता की पीठ पर तोड़ना शुरु कर देते हैं। अब स्थिति यह है कि 'जनता की लहूलुहान पीठ' के पक्ष में और 'जुल्म की लाठी' के विरोध में उठने वाली न्यायपूर्ण आवाजों का गला घोंटा जा रहा है।'' संपादकीय नोट्स में रामकिंकर बैज, रायकृष्ण दास, विनय घोष, साहिर लुधियानवी, मो. रफी, हंस कुमार जैसे कलाकारों–साहित्यकारों और संस्कृतिकर्मियों के निधन की सूचना देते हुए उनके व्यक्तित्व–कृतित्व की सकारात्मक विरासत को एक नई मंजिल तक उन्नत, परिष्कृत और समृद्ध करने की अपील भी की गई है।''[8]

सुरेंद्र स्निग्ध की संपादकीय दृष्टि समय और समाज के सरोकार से हमारा परिचय कराती है। उन्होंने प्रगतिशील, जनवादी और लोकोन्मुख रचनाओं को 'भारती' में प्रकाशित करके जनता की चेतना को जागृत करने की कोशिश की। उन्होंने 'भारती' में प्रकाशन के लिए उन्हीं रचनाओं का चयन किया जो जनता की महान प्रगतिशील परंपरा का निर्वहण करने और उसका विकास करने के दृष्टिकोण से सक्षम रहीं। 'भारती' का संपादन और प्रकाशन सुरेंद्र स्निग्ध के सामाजिक और सांस्कृतिक बोध का अहसास कराने के साथ–साथ उनके व्यापक और वैज्ञानिक सोच–समझ का पता देते हैं।

सुरेंद्र स्निग्ध ने 'भारती' और अन्य पत्रिकाओं के अलावा 'नई संस्कृति' के भी दो महत्वपूर्ण अंकों का संपादन किया। 'नई संस्कृति' के संपादक के रूप में उनकी संपादकीय दृष्टि, सूझ–बूझ और कौशल की साहित्यिक बिरादरी में धाक जमी। उन्होंने 'नई संस्कृति' का संपादन करके बिहार और हिंदी पट्टी में चल रहे सर्वहारा और गरीब–गुरबों के आंदोलन का सांस्कृतिक और साहित्यिक समर्थन किया। इस पत्रिका के महत्व का अंदाजा हम इस बात से लगा सकते हैं कि बिहार के सुदूर गांव–घर के कम्युनिस्ट कार्यकर्ता भी इसको बहुत ध्यान से पढ़ते और इसमें छपी रचनाओं को अपने आंदोलन का मंत्र बनाते।

'नई संस्कृति' पटना से निकलती थी और इसकी टैग लाइन होती थी–

'मुक्तिकामी जनता की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति।' इसमें देश और दुनिया के सरोकारी लेखन करने वाले वरिष्ठ, युवा और नए लेखक प्रकाशित होते थे। 'नई संस्कृति' के अंक–3 में अफ्रीकी कविताओं के अंतर्गत एक ओर जहां नोबेल पुरस्कार से सम्मानित वोले शोयिंका की कविताएं प्रकाशित हैं, वहीं दूसरी ओर महान कवयित्री जिन्जी मंडेला, इल्वा मैके, ओस्वाल्ड मत्सली और पीबी मैगोम्बे जैसे विश्व प्रसिद्ध कवियों को भी पढ़ने को मिलता है। इस अंक में चीनी कथाकार देंग जेंग की कहानी 'बड़ा शिकार' भी प्रकाशित है जिसका अनुवाद हिंदी के वरिष्ठ लेखक शरदेन्दु कुमार ने किया है। इसी अंक में महान दार्शनिक अंतोनियो ग्राम्शी के साहित्य और संस्कृति संबंधी चिंतन पर गहन विचार–विमर्श श्रीप्रकाश मिश्र ने किया है। इसमें 'संस्कृति की राजनीति' नामक वैली शिरोत की एक गंभीर टिप्पणी भी प्रकाशित है जिसे संस्कृतिकर्मियों को जरूर पढ़ना चाहिए। समकालीन हिंदी कवि भी इसमें प्रकाशित हैं जिनमें कुमार विकल, मदन कश्यप, अरुण कमल, नचिकेता, रंजीत वर्मा, कुमार अम्बुज, अनिरुद्ध प्रसाद और मनोज मेहता की जनवादी और प्रगतिशील चेतना से हम परिचित होते हैं। हिंदी कहानियों के तहत मनमोहन पाठक और आनंद हर्षल की कहानियां छपी हैं। इसी अंक में राणा प्रताप का 'साम्प्रदायिकता और अवामी एकता के पहलू' और कथाकार–उपन्यासकार संजीव के 'कथ्य–शिल्प बनाम अभिव्यक्ति के खतरे' नाम से विचारोत्तेजक और चिंतनपरक आलेख साया हुए हैं जो जनता के प्रति अटूट पक्षधरता के लिए हमें प्रेरित करते हैं।

सुरेंद्र स्निग्ध का 'नई संस्कृति' के लिए रचनाओं का चयन करते समय मुख्य उद्देश्य यह होता था कि देश और दुनिया की भाषाओं में जो कुछ भी श्रेष्ठ और मानवीय दृष्टिकोण से लिखा जा रहा है उन्हें अपनी पत्रिका में प्रकाशित कर हिंदी पाठकों के सामने लाया जाए। इस सिलसिले में उन्होंने अंग्रेजी, रुसी, चीनी, फ्रेंच, इतालवी और जर्मन भाषाओं के साहित्य से खूब हिंदी अनुवाद करवाया। उनके इस प्रयास से हिंदी पाठक विश्व साहित्य की नई प्रवृत्तियों, खोजों, सिद्धांतों और विचारों से अवगत हो सका। यह अकारण नहीं है कि भारतीय भाषाओं में दलित साहित्य, स्त्री साहित्य, आदिवासी साहित्य के पीछे अश्वेत साहित्य, फ्रेंच साहित्य, रुसी साहित्य और अंग्रेजी साहित्य की प्रेरणा है। हिंदी की लघु साहित्यिक पत्रिकाओं का जब भी इतिहास लिखा जाएगा, तो उसमें सुरेंद्र स्निग्ध के संपादक की विश्व दृष्टि और सूझ–बूझ का उल्लेख अवश्य किया जाएगा।

सुरेंद्र स्निग्ध ने 'नई संस्कृति' के संपादन में अपने जीवनभर के अनुभव, सोच–विचार, समझदारी, चेतना और सूझ–बूझ की अर्जित और संचित पूंजी को झोंक दिया। उन्होंने इस पत्रिका के जरिए जनता की संस्कृति, संवेदना और चेतना का निर्माण किया। उन्होंने इस अंक के संपादकीय में लिखा है– ''नई संस्कृति का यह अंक उपर्युक्त समस्याओं के प्रति सजग ही है। साथ ही संस्कृति के विविध

रूपों में संवेदनात्मक स्तर पर एक पाठकीय विश्वसनीयता को अर्जित करने का प्रयास है। 'नई संस्कृति' शासक वर्ग के द्वारा फैलाई जा रही अपसंस्कृति तथा उपभोक्तावादी संस्कृति के खिलाफ एक सृजनात्मक हस्तक्षेप भी है।''[9]

उपुर्यक्त समस्याओं से उनका तात्पर्य मुख्य रूप से जनता की सर्वहारा संस्कृति को बचाने की है जिसे शासक वर्ग द्वारा मिटाने की साजिश रची जा रही है। वे कहते हैं कि सर्वहारा संस्कृति को नए–पुराने नारे लगाकर नहीं बचाया जा सकता है और न ही उसे किसान–मजदूरों के जीवन के सतही और फ्रीज्ड फोटोग्राफी जैसे चित्र उतारकर बचाया जा सकता है। सुरेंद्र स्निग्ध अपने संपादकीय में चिंता जाहिर करते हैं कि आज बाजार रूप बदल–बदलकर हमारे घरों और जीवन में प्रवेश कर चुका है जिसे पहचानने की जरूरत है। उनका मानना है कि बाजार का मतलब होता है सब कुछ को उपभोक्ता में तब्दील कर देना। हरेक शे की कीमत तय कर देना। यही समाज में अपसंस्कृति और उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रसार के नियामक कारण बनते हैं। सुरेंद्र स्निग्ध का यह तब जितना प्रासंगिक था उससे कम आज प्रासंगिक नहीं है।

'नई संस्कृति' 4–5 संयुक्तांक है। यह दिवंगत लोकप्रिय कवि–गीतकार तथा दार्शनिक गोरख पांडेय को समर्पित है। यह संयुक्तांक अपने समय में बहुचर्चित हुआ था। क्रांतिकारी कवि गोरख पांडेय को समझने के लिहाज से यह अंक बहुत मूल्यवान है। वर्ष 1945 में उत्तर प्रदेश के देवरिया में जन्मे गोरख पांडेय ने 29 जनवरी, 1989 को दिल्ली में आत्म–हनन कर लिया। अपनी क्रांतिकारी और ओजस्वी कविताओं एवं गीतों से गोरख ने आम–अवाम के दिलों में खास जगह बनाई। उनकी कविताएं और गीत हिंदी पट्टी के धधकते खेत–खलिहानों में मशाल का काम करते हैं। गोरख के लिखे हुए गीत 'समाजवाद बबुआ धीरे–धीरे आई' आज भी संसद से सड़क तक सुनने को मिल जाते हैं। सुरेंद्र स्निग्ध ने ऐसे कालजयी और महान रचनाकार को सहेजकर अपनी संपादकीय दृष्टि और सूझ–बूझ का परिचय दिया है।

इस अंक का संपादकीय लिखते हुए सुरेंद्र स्निग्ध ने गोरख पांडेय को इन शब्दों में अपनी श्रद्धांजलि दी है– ''साथी गोरख पांडेय की मौत के बाद सांस्कृतिक जगत में जिस तरह का खंड–खंड पाखंड पर्व मनाया गया– उसने हमें और भी दुख पहुंचाया है। हमें तो इस तरह की हत्याओं और आत्महत्या पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए था। पाश, डोभाल तथा हाशमी की हत्याएं और गोरख पांडेय की आत्महत्या किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा की गई व्यक्ति विशेष की हत्या नहीं है। यह तो सत्ताधारियों और उसके चट्टे–बट्टे– एक पूरे वर्ग की काली करतूत है।''[10]

सुरेंद्र स्निग्ध का यह संपादकीय गोरख पांडेय के आत्म–हनन के दुख को और गहरा कर जाता है। उनके इस संपादकीय के जरिए गोरख का आत्म–हनन तब और भी मार्मिक हो जाता है जब उनको लेकर तरह–तरह की अफवाहें उड़ाई

जाती हैं और उनकी त्रासदी के लिए प्रेम–प्रसंग को जिम्मेदार ठहराया जाता है। सुरेंद्र स्निग्ध का मानना है कि गोरख पांडेय की इस त्रासदी के लिए व्यवस्था जिम्मेदार है क्योंकि जब तलक ऐसी व्यवस्था बनी रहेगी तब तक न जाने ऐसे कितने गोरख पांडेय, सफदर हाशमी, अवतार सिंह पाश जैसे कलाकारों की हत्या और आत्महत्याएं होती रहेंगी। गोरख पांडेय जैसे जनता के सच्चे हमदर्द कवि कलाकार को व्यवस्था यदि प्रत्यक्ष रूप से खत्म नहीं कर पाती है, तो वह परोक्ष रूप से ऐसा कुचक्र रचती है कि उन्हें आत्म–हनन के लिए विवश होना पड़ता है।

'नई संस्कृति' का यह अंक जनकवि गोरख पांडेय के व्यक्तित्व और कृतित्व को समझने के लिहाज से रेखांकित करने योग्य है। संपादक सुरेंद्र स्निग्ध का यह उद्यम संग्रहणीय है। यह अंक एक ओर जहां गोरख की कविताओं, भोजपुरी गीतों, संपादक सुरेंद्र स्निग्ध को लिखे पत्रों, साक्षात्कार और साहित्य–संस्कृति संबंधी उनके दार्शनिक चिंतनपरक आलेखों के लिए याद किया जाएगा, वहीं दूसरी ओर इसमें गोरख का मूल्यांकन करते उन आलेखों को भी शामिल किया गया है जो उनके सरल, सहज, सरोकारी, जनोन्मुख, जनवादी और प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय देते हैं। ऐसे में कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (एमएल) के महासचिव दीपंकर भट्टाचार्य, राणा प्रताप, राजकुमार कुम्भज, मोदनाथ प्रश्रित, मुकेश प्रत्युष, ओम भारती और शंभु कुशाग्र के आलेख उल्लेखनीय हैं। इन आलेखों में गोरख पर लगाए गए लांछनों, आरोपों के जवाब तो दिए ही गए हैं साथ ही इनसे गोरख पांडेय के एक ऐसे बड़े कवि–चिंतक होने का पता चलता है जिनमें संघर्षशील जनता के प्रति गहरी बेचौनी और लगाव है।

ओम भारती गोरख पांडेय की कविताओं पर लिखते हैं– ''गोरख पांडेय की सामाजिक चिंताएं और सरोकार यहां भी उतने ही सुस्पष्ट हैं। वर्तमान की खलबलाहट और उसके गर्भ में पल रहे भविष्य का रुपाकार भी कवि की कल्पना में साफ–साफ देखा जा सकता है। इन पंक्तियों से यह भी उजागर होता है कि क्रांति–कर्म से सीधे–सीधे जुड़ने वाले इस रचनाकार का अपने विकासक्रम में क्रमशः एक गंभीर चिंतक और विचारक के रूप में उत्तरोत्तर रुपांतरण तथा परिमार्जन होता गया है।''

इस अंक में हिंदी के अन्य दस कवियों की 15 कविताएं भी प्रकाशित हैं, जिनमें ध्रुवदेव मिश्र पाषाण, तरसेम गुजराल, नूर मुहम्मद नूर, महेश्वर, निलय उपाध्याय, वीरेन नंदा, नरेंद्र पुण्डरीक महत्वपूर्ण हैं। इसमें ईरानी कवि सईद सुल्तानपुर की एक कविता और जवाहर सिंह की 'शह और मात' कहानी को भी प्रकाशित किया गया है, जिनके जरिए समय और समाज की हलचल ध्वनित होती है।

निष्कर्ष– हिंदी की लघु–साहित्यिक पत्रिकाओं के अस्तित्व से जुड़े इतने प्रश्नों और संकटों के बावजूद सुरेंद्र स्निग्ध कई पत्रिकाओं के संपादन से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जुड़े रहे। उन्होंने अपनी पत्रिकाओं के सामाजिक और

सांस्कृतिक सरोकारों और मूल्यों से कोई समझौता नहीं किया और बड़े ठसके से उन्हें निकालते रहे। भले ही उनके 1 या 2 ही अंक निकले हों लेकिन उन्होंने पत्रिका निकालने के लिए किसी अनैतिक मूल्यों का सहारा नहीं लिया और लघु पत्रिका आंदोलन की आत्मा को जीवित रखा। हिंदी की लघु पत्रिका आंदोलन के इतिहास में सुरेंद्र स्निग्ध का नाम वैसे संपादकों के रूप मे सम्मान के साथ लिया जाएगा जिन्होंने रचनाओं के कंटेंट और चयन में हमेशा प्रगतिशील, जनवादी, समावेशी और सामाजिक न्याय का परिचय दिया और आम–अवाम की आवाज को बुलंद किया। उन्होंने अपनी पत्रिकाओं के जरिए जिस तरह सर्वहारा और जनवादी संस्कृति की वकालत की उससे उनके संस्कृति बोध का भी अहसास हो जाता है। उनके संपादन में निकली गांव घर, भारती, नई संस्कृति, प्रगतिशील समाज (कहानी विशेषांक), उन्नयन, अयस्टर और शब्दिता महज लघु साहित्यिक पत्रिकाएं नहीं हैं बल्कि ये सर्वहारा और जनवादी साहित्य के इतिहास हैं।

संदर्भ सूची–

1. फेसबुक, रीता दास राम, 16 अक्टूबर, 2024, https://www.facebook.com/100004045159226/posts/3923115211166612/?rdid=izz0iX4Iw5WBu0G4#
2. बीबीसी, असगर वजाहत, शुक्रवार, 05 जनवरी, 2007 https://www.bbc.com/hindi/entertainment/story/2007/01/070105_guestedit_fourth
3. बीबीसी, असगर वजाहत, शुक्रवार, 05 जनवरी, 2007 https://www.bbc.com/hindi/entertainment/story/2007/01/070105_guestedit_fourth
4. फेसबुक, रीता दास राम, 16 अक्टूबर, 2024 https://www.facebook.com/100004045159226/posts/3923115211166612/?rdid=5DgLTQklGpeN73jF#
5. अभिनव मीमांसा, सुरेन्द्र स्निग्ध, स्मृति, दिसम्बर, 2019, सं. डॉ. विवेक पांडेय, 199, विजय खंड, गोमती नगर, लखनऊ– 226010, पृष्ठ–134
6. वही, पृष्ठ–146
7. वही, पृष्ठ–146–147
8. वही, पृष्ठ– 147
9. नई संस्कृति, अंक–3, नई संस्कृति, रायहसनपुर, चांयटोला, पटना–800004, बिहार, 1988, पृष्ठ–3
10. नई संस्कृति, अंक–4–5, नई संस्कृति, रायहसनपुर, चांयटोला, पटना–800004, बिहार, 1989, पृष्ठ–2
11. वही, पृष्ठ– 38

■

अस्मितामूलक चिंतन

दलित जन्मजात आजीवक

कैलाश दहिया *

सभी को पता रहना चाहिए, 'एक दलित जन्मजात दलित पैदा होता है, वह दलित के रूप के जीता है और दलित ही मरता है।'

इस दलित के रूप में मरने से बचने के लिए हमारे दो बड़े लोगों ने प्रयास किए हैं। इन में पहले तो थे कबीर साहेब के दादा या पड़दादा, जिन्होंने मुस्लिम धर्मांतरण किया। लेकिन कबीर साहेब ने समझ लिया था कि धर्मांतरण के बाद भी वे अछूत अर्थात दलित ही कहे जा रहे हैं। ऐसे ही पिछली शताब्दी में कबीर साहेब के ही महान अनुयायी बाबा साहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर ने भी बौद्ध धर्मांतरण किया। लेकिन आज भी वे और उन के अनुयायी दलित ही कहे जाते हैं। खुद डॉ. अंबेडकर दलितों के ही नेता कहे जाते हैं। एक तरह से धर्मांतरण के यह दोनों प्रयोग फेल हुए हैं। जब इस फेल प्रयोग के बारे में बताया जाता है तो नवबौद्ध उछल–कूद मचाने लगते हैं। इसी विषय पर नवबौद्ध शीलबोधि को जवाब देते हुए वेब पत्रिका 'मीडिया मोर्चा' पर 28 जून, 2026 को मेरा आलेख 'डॉ. अंबेडकर का बौद्ध धर्मांतरण एक प्रयोग था जो फेल हो गया' प्रकाशित हुआ तो शीलबोधि समेत अन्य नवबौद्धों ने चुप्पी साध ली। लेकिन पिछड़े वर्ग से आने वाले लेखक ओमप्रकाश कश्यप ने मेरे आलेख पर 30 जून, 2026 को अपनी टिप्पणी दर्ज की है, जिसमें इन्होंने लिखा है– 'पूरा विमर्श व्यक्तिगत होता जा रहा है। इससे बचकर आगे काम करने की जरूरत है। जो बुद्ध को मानने वाले हैं, उन्हें इस प्रश्न का उत्तर खोजना चाहिये कि संपूर्ण बोधि के प्राप्त होने के बावजूद बुद्ध आजीवक उपक के आगे निरुत्तर क्यों हो गये थे। और मक्खलि गोशाल में आखिर क्या खूबी थी जिससे वे लोगों को अपने संघ में ऐसे जकड़ लेते थे, जैसे धीवर मछलियों को जाल में फंसा लेता है। हर चीज पर विस्तार से चर्चा करने वाले बुद्ध गोसाल की खूबी (या बुराई) की विवेचना क्यों नहीं करते। जो आजीवक दर्शन में विश्वास करते हैं, उनकी चुनौती और भी बड़ी है। उन्हें वाद–संवाद में अपना श्रम गंवाने के बजाय अपनी ऊर्जा इस दर्शन को समृद्ध करने में लगानी चाहिए। यह कहना कि डॉ. धर्मवीर ने आजीवक दर्शन को कंपलीट कर लिया

* संपर्क – 89सी, एकता अपार्टमेंट, पश्चिम विहार, नई दिल्ली–110063

था, बिलकुल गलत और अतिउत्साह का प्रदर्शन है। डॉ. धर्मवीर ने, सच तो यह है कि हमें केवल आजीवक दर्शन का ककहरा थमाया है।' इनके कथन के बाद अब इस पर आगे बात की जा सकती है।

सर्वप्रथम, मेरा वह लेख किसी व्यक्ति के खिलाफ नहीं, बल्कि उन तमाम शीलबोधियों के विरुद्ध है जो दलित चिंतन को विद्रूप करने में लगे हुए हैं। जो प्रक्षिप्त गढ़ते हैं। एक अर्थ में इन जैसों को दलित विरोधी भी कह सकते हैं। दलित विमर्श में ऐसे शीलबोधियों के चेहरे लगातार उघाड़े गए हैं और यह सिलसिला अभी भी सुचारु रूप से चल रहा है। उधर, पिछड़ों में तो ऐसों की गिनती करना बहुत कठिन कार्य है। पिछड़े समाज के बौद्धिक तो मानो दलित चिंतन को प्रक्षिप्त करते हुए इसे हड़पना चाहते हैं। इनमें दिलीप मंडल से लेकर प्रेम कुमार मणि, सुभाष कुशवाहा, राजेंद्र प्रसाद सिंह, कमलेश वर्मा वगैरह की एक पूरी जमात शामिल है। पिछड़े तो वर्णवादियों के आगे बिछे जाते हैं।

कश्यप जी लगातार आजीवक विषयों पर लिखते रहे हैं। ये क्या लिख रहे हैं इसे ये खुद ही समझ सकते हैं। इन्हें अच्छे से पता है कि आजीवक चिंतन और इतिहास में आजीवकों अर्थात दलितों के लिखे हुए के अतिरिक्त किसी गैर दलित के लिखे जाने का कोई अर्थ नहीं है। उसे कोई देखता तक नहीं है। यह सही भी है। इन्होंने अब तक जो लिखा है उस से आजीवक इतिहास, परंपरा और चिंतन का रत्ती भर भी पता नहीं लगता। बावजूद इसके इन्हें अभी तक कुछ भी नहीं कहा गया है। लेकिन इन्होंने मेरे आलेख पर जो टिप्पणी की है उस से इन की मंशा का पता लग जाता है।

इनका यह लिखना हास्यास्पद ही कहा जा सकता है कि 'बुद्ध को मानने वाले हैं, उन्हें इस प्रश्न का उत्तर खोजना चाहिये कि संपूर्ण बोधि के प्राप्त होने के बावजूद बुद्ध आजीवक उपक के आगे निरुत्तर क्यों हो गये थे।' पूछा जाना चाहिए, क्या इसका उत्तर इन्हें खुद नहीं खोजना चाहिए? ये दूसरों से जवाब की उम्मीद क्यों रखते हैं? बुद्ध को मानने वाले भला इस बात को क्यों स्वीकार करेंगे कि बुद्ध आजीवक उपक के आगे निरुत्तर हो गए थे! वे तो इस बात पर प्रक्षिप्त के पहाड़ खड़े कर देंगे। ये स्वयं आजीवक पर लिखने का दावा करते हैं और लगातार आजीवक का नाम लेकर लिख रहे हैं। तब इस बात का जवाब इन्हें क्यों नहीं देना चाहिए? फिर, इस बात की क्या गारंटी है कि इस बात का जवाब आजीवक देंगे तो ये उसे यह स्वीकार कर लेंगे। जब ये महान आजीवक चिंतक डॉ. धर्मवीर के आजीवक चिंतन को कंप्लीट करने की बात को स्वीकार करने को तैयार नहीं, तब ये भला हमारी किसी भी बात को मान लेंगे ऐसा सोचना ही भ्रमित होना कहा जा सकता है। हां, इसमें एक बात पक्की है, जब बुद्ध हमारे एक दिशाचर के सामने ही चुप्पी साध गए तब मक्खलि गोसाल से वे आंखें मिलाने की हिम्मत कैसे कर सकते थे! इसीलिए बौद्ध धर्म–ग्रंथों में गोसाल के प्रति अपशब्द मिलते हैं। इन्हें इस विषय पर काम करना चाहिए।

आजीवक पर अनेक लेख लिखने वाले को इस बात की ही खबर नहीं है कि 'मक्खलि गोशाल में आखिर क्या खूबी थी जिससे वे लोगों को अपने संघ में ऐसे जकड़ लेते थे, जैसे धीवर मछलियों को जाल में फंसा लेता है।' इन्हें पता होना चाहिए कि महावीर का चिंतन वर्ण के समर्थन में लिपटा हुआ था। जबकि गोसाल ने वर्ण को किसी भी रूप में स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था, तभी वे 'अवण्णवादी' कहलाए। जिसे ना–समझी में कुछ लोग पंचम वर्ण कहकर धूल में लट्ठ मारते हैं। बताया जा सकता है, इस देश की अधिकांश जनता या यूं कहिए मूलनिवासी अर्थात दलित और आदिवासी जिन्हें अवण्णवाद भाता है, वे तत्काल गोसाल के पक्ष में खड़े हो गए। इस में वे लोग भी शामिल हैं जिन्हें आज पिछड़े वर्ग का कहा जा रहा है। लेकिन जिन्होंने कभी भी अपने आप को शूद्र नहीं माना। खुद को शूद्र मानने वालों को ब्राह्मण का गुलाम कहा जा सकता है।

चूंकि, गोसाल इस देश की मिट्टी में ही जन्मे थे। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की तरह किसी अनजाने क्षेत्रों से इस देश में नहीं आए थे। ऐसे में मूल निवासियों को गोसाल का चिंतन आकर्षित करना स्वाभाविक ही था। इसी से चिढ़ कर क्षत्रिय महावीर की तरह क्षत्रिय बुद्ध ने कहा वह (गोसाल) लोगों को ऐसे जकड़ लेता है जैसे धीवर मछलियों को जाल में फंसा लेता है।

जहां तक बुद्ध की खूबी की प्रशंसा करने की बात है तो इसके लिए एक दलित डॉ. भीमराव अंबेडकर ही काफी हैं। कोई और बुद्ध की क्या प्रशंसा करेगा? और, डॉ. अंबेडकर द्वारा की गई बुद्ध की प्रशंसा को आजीवक चिंतन ने काट डाला है। अब बुद्ध और उन का चिंतन इस लायक भी नहीं बचा है कि उस पर बात की जाए। केवल प्रसंगवश ही आजीवक बुद्ध की आलोचना करते हैं। इस बात को सभी को समझना चाहिए। फिर, दुनिया में ढेरों महापुरुष भरे पड़े हैं, तो क्या आजीवक उन सभी की प्रशस्ति भी लिखेंगे? यह तो कोई बात नहीं हुई। जिसे बुद्ध की प्रशंसा करनी हो वह जी भर कर करे, आजीवक किसी को रोक नहीं रहे। बल्कि होना यह चाहिए कि आजीवकों द्वारा की गई बुद्ध की आलोचना के जवाब बुद्ध समर्थकों को देने चाहिए। इसी से चिंतन का विस्तार होता है। जहां तक मक्खलि गोसाल की आलोचना की बात है तो सभी इसके लिए स्वतंत्र हैं। लेकिन उन्हें आजीवकों के प्रत्युत्तर के लिए तैयार रहना चाहिए। इस क्रम में उन की सटीक आलोचना आ सकती है। किसी को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि वे डॉ. धर्मवीर, कबीर, रैदास और गोसाल की आलोचना करेंगें तो उन्हें जवाब नहीं मिलेगा। उन्हें उन्हीं की भाषा में ही जवाब दिया जाएगा।

यहां एक अन्य बात पूछने लायक है, इन्होंने 'बुद्ध गोसाल की खूबी (या बुराई)' कैसे लिख दिया? ये गोसाल की बुराई के बारे में क्या जानते हैं, इसका इन्हें अच्छे से खुलासा करना चाहिए। ताकि लोगों को पता चल सके। इस से पता यह चलता है कि आजीवक धर्म के संस्थापक मक्खलि गोसाल के प्रति इनके भीतर क्या चल रहा है। ये उन में बुराइयां ढूंढ़ रहे हैं! जहां तक बुद्ध में किसी

बुराई की बात है तो इस से आजीवकों को कोई मतलब नहीं है। इन्हें बुद्ध या गोसाल के चिंतन में कमियां ढूंढ़नी चाहिए, जबकि ये व्यक्तियों में बुराइयां ढूंढ़ने की बात कर रहे हैं। व्यक्ति के रूप में गोसाल, महावीर और बुद्ध तीनों बड़े लोग हैं। हम इन बड़े लोगों के चिंतन को समझ रहे हैं। जिसमें मक्खलि गोसाल के आगे महावीर और बुद्ध का चिंतन ध्वस्त हो जाता है। एक अन्य बात बताई जा सकती है, बुद्ध और उनका धर्म आजीवकों की किसी भी तरह की स्कीम में शामिल नहीं है। यह तो डॉ. अंबेडकर द्वारा बौद्ध धर्मांतरण के कारण बुद्ध हमारी आलोचना की जद में हैं। अन्यथा, बुद्ध और इन के क्षत्रिय वर्णबंधु जैसे रहना चाहें वैसे रहने को स्वतंत्र हैं। जहां तक गोसाल द्वारा व्यक्तियों को प्रभावित करने की बात है, तो यह वर्णवादी बुद्ध की हीनता है। उन का यह कहना कि 'वे लोगों को अपने संघ में ऐसे जकड़ लेते थे, जैसे धीवर मछलियों को जाल में फंसा लेता है।' दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में आए इस कथन से आजीवकों को क्या लेना देना? बुद्ध को अच्छे से पता है कि इस देश के मूल निवासी पुनर्जन्मवाद से जुड़े वर्णवाद को किसी भी रूप को स्वीकार नहीं करते। ये गोसाल की बातों को मानते हैं। यही वजह है कि बुद्ध उन्हें कोस रहे हैं।

यह कहना कि डॉ. धर्मवीर ने तो केवल आजीवक का ककहरा ही सिखाया है, इनके दिमाग में चल रही उधेड़बुन को दर्शाता है। ये शायद स्वयं को आजीवक का खोजी और चिंतक समझ रहे हैं! जहां तक चिंतन की बात है तो यह इनकी समझ से बाहर है। यही वजह है कि ये इस तरह की बातें बना रहे हैं। फिर भी, इनकी बात का ध्यान रखते हुए पूछा जा सकता है अगर यह ककहरा सामने नहीं आता, तब ये आजीवक के बारे में क्या पढ़ते, क्या समझते और क्या लिखते? यह ककहरा का क्या मतलब समझते हैं? ककहरा का अर्थ होता है किसी भाषा की ध्वनि और शब्दों को सामने लाना। इसी को 'कायदा' कहते हैं। अगर किसी भाषा का कायदा ना हो तो व्यक्ति लिख–पढ़ ही नहीं सकता। वह ज्ञान के क्षेत्र में कैसे उतरेगा? एआई 'ककहरा' का अर्थ कुछ ऐसे बताती है– ''हिंदी वर्णमाला, बारहखड़ी या किसी विषय के प्रारंभिक और बुनियादी ज्ञान से है। यह 'क' से 'ह' तक के व्यंजनों के समूह को संदर्भित करता है। इसके मुख्य अर्थ निम्नलिखित हैं : वर्णमाला : हिंदी वर्णमाला, विशेष रूप से 'क' से 'ह' तक के वर्णों का समूह। आरंभिक ज्ञान : किसी भी विद्या या विषय का प्रारंभिक, बुनियादी या जरुरी ज्ञान।'' अब कोई इन से पूछ सकता है, अगर आपके पास आजीवक का प्रारंभिक ज्ञान ही नहीं है तब आप कैसे आगे बढ़ेंगे? यह अलग बात है की डॉ. धर्मवीर ने आजीवक चिंतन की प्रक्रिया को कंप्लीट कर दिया है। इस बात को ये समझना नहीं चाहते तो क्या किया जा सकता है? डॉ. साहब को महान आजीवक चिंतक ऐसे ही नहीं कहा जा रहा। प्रसंगवश बताया जा सकता है, डॉक्टर साहब ने आजीवक धर्म और चिंतन को इस तरह से व्यवस्थित और स्थापित किया है जैसे इस्लाम को मोहम्मद साहेब ने। तो, बताना यही है की डॉ. धर्मवीर ने आजीवक

चिंतन को खोजा ही नहीं बल्कि उसे व्यवस्थित करते हुए अपने महापुरुषों कबीर, रैदास और गोसाल की परंपरा में इसे कंप्लीट करते हुए पुनर्स्थापित किया है।

अब जानना यह है कि इनके दिलो–दिमाग में क्या चल रहा है? ये डॉ. धर्मवीर के प्रच्छन्न विरोध में क्यों उतरे हुए हैं? फिर ये चिंतक होने को क्या समझते हैं? बताया जा सकता है, चिंतक वह होता है जो अपने चिंतन को जीता है। इस अर्थ में डॉ. धर्मवीर ने आजीवक चिंतन को व्यवस्थित करने के साथ–साथ इसे अपने जीवन में उतारा है–उसे जीया है। आजीवक चिंतन की सबसे बड़ी खासियत है कि यह स्त्री–पुरुष दोनों की स्वतंत्रता का घनघोर पक्षधर है। इस स्वतंत्रता का नाम 'स्त्री–पुरुष के बीच तलाक की स्वतंत्रता' से है। आजीवक चिंतन आजीवकों को अपने जीवनसाथी से जारकर्म की स्थिति में पल भर में तलाक की स्वतंत्रता देता है। इस में तीसरे व्यक्ति की नहीं सुनी जानी। यह स्वतंत्रता हम सभी आजीवकों को महान मक्खलि गोसाल से लेकर महान धर्मवीर तक से मिली है। जो डॉ. अंबेडकर के 'हिंदू कोड' की वजह से लगभग विलुप्त होती जा रही है। डॉ. धर्मवीर ने इसी स्वतंत्रता के लिए महायुद्ध लड़ा, जिसके विरोध में नामवर सिंह, रमणिका गुप्ता और बजरंग बिहारी तिवारियों ने हमारी दलित स्त्रियों को आगे करके डॉ. साहब पर जूते चप्पल चलवाए हैं। दलित स्त्रियां रजनी तिलक, उसकी बहन अनीता भारती के साथ–साथ विमल थोरात इनका हथियार बनी हैं। बुधिया, भंवरी देवी और मसायी ऐसी ही हथियार बनी हैं। यह द्विजों की तरफ से जारकर्म का समर्थन कहा जा सकता है। ये जूते चप्पल प्रकरण को क्या समझते हैं? इस जघन्य कृत्य पर नावरिया जैसा लिख रहा था 'विरोध सही तरीका गलत', पूछा जा सकता है, इस विरोध में इसे सही क्या दिख रहा था? दूसरे, विरोध का ये और कौन सा तरीका चाहता था? बताया जा सकता है, ये जूते–चप्पल किसी भी तरह के हथियार हो सकते थे?

नावरिया का इशारा भी किसी हथियार के प्रयोग करने की तरफ ही लगता है। असल में, यह विरोध प्राचीन भारत में मक्खलि गोसाल का है तो मध्यकाल में रैदास–कबीर का और वर्तमान में धर्मवीर का। इस विरोध में वर्णवादियों ने रैदास की हत्या तक की है।

बताना यह है, डॉ. धर्मवीर ने अपने साथ हुए जारकर्म के अपराध पर तलाक की मांग की और इस प्रकरण पर 'मेरी पत्नी और भेड़िया' जैसा महाग्रंथ लिखा है। यह दुनिया में इस विषय पर पहली और आखरी किताब है। इन्हें इस महाग्रंथ को अवश्य पढ़ना चाहिए। तब शायद इन्हें अहसास होगा कि चिंतक क्या होता है। तब इन्हें पता लगेगा कि महा शिलाखंडों का संग्राम क्या था! यह संग्राम दासता के खिलाफ ही नहीं बल्कि स्त्री–पुरुष की स्वतंत्रता का दुनिया का पहला शंखनाद था। जिसे प्राचीन भारत में मक्खलि गोसाल ने लड़ा था और आज जिसे डॉ. धर्मवीर ने लड़ा है। बताया यह भी जा सकता है, सुकरात तो जहर का प्याला पी कर पल भर में मृत्यु को प्राप्त हो गए और ईसा मसीह कुछ दिन के लिए सूली

पर चढ़कर अपना जीवन दे गए। लेकिन, डॉ. धर्मवीर ने प्रतिदिन–पल पल इस जहर को जीवन के अंतिम समय तक पीया है। इसे मरते दम तक सूली पर चढ़ाए जाना भी कह सकते हैं। तो इन्हें डॉ. धर्मवीर के जीवन और चिंतन का ठीक से अध्ययन करना चाहिए। ताकि इन के हर तरह के भ्रम मिट सकें। इन्हें पता होना चाहिए की चिंतक का जीवन और चिंतन एकाकार होकर चलता है। बाकी सब तो साहित्यकार और स्कॉलर की श्रेणी में ही आते हैं।

यह भी बताया जा सकता है, चिंतक धर्म का स्रोत होता है। ऐसे ही हवा में कोई चिंतक नहीं बन जाता। चिंतक अपनी ऐतिहासिक परंपरा, रीति–रिवाज और चिंतन को जीता है। वह उसे सूत्रबद्ध कर देता है और स्वयं धर्म का स्रोत बन जाता है। इस रूप में हमारे महान चिंतक गोसाल, रैदास, कबीर और धर्मवीर आजीवक धर्म के स्रोत हैं। यही वजह है कि डॉ. भीमराव अंबेडकर बौद्ध धर्म के चिंतक नहीं कहे जा सकते। वे अपनी आजीवक परंपरा का ही पालन करते हुए बौद्ध धर्म को परिवर्तित करने की कोशिश करते हैं। जिस में वे बुरी तरह असफल रहते हैं। फिर, जिस को बौद्ध धर्म भाता है वह बुद्ध के जीवन के अनुसार चले और हाथ में भीख का कटोरा लेकर तथाकथित निर्वाण के लिए जंगल की राह पकड़े। किसी को गोसाल के प्रति अपशब्द नहीं बोलने दिए जाने।

जहां तक 'वाद–संवाद में अपना श्रम गंवाने' की बात है, तो यह सही वाक्य नहीं है। वाद–संवाद से ही चिंतन का विकास होता है। इस वाद–संवाद को ही 'विमर्श' कहा गया है और 'दलित विमर्श' के बाद ही आजीवक चिंतन सामने आया है। वैसे यह वाद और संवाद के बीच प्रतिवाद को विलोपित कर गए हैं। जो कार्ल मार्क्स का द्वंदात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत है। इसमें वाद यानी थीसिस, प्रतिवाद यानी एंटीथेसिस से संवाद यानी सिंथेसिस का जन्म होता है। यह भौतिकवाद के सिद्धांत के तौर पर लागू होता है। आजीवक चिंतन इस द्वंदात्मक भौतिकवाद से बहुत आगे का और पूर्व का चिंतन है। भौतिकवाद इस का एक अंश मात्र है। आजीवक चिंतन में दलित की सभी समस्याओं के समाधान निहित हैं। इस में ईश्वर सगुण और निर्गुण के रूप में उपस्थित है। अगर वर्णवादी–जातिवादी ईश्वर के नाम पर हमारी स्त्रियों की तरफ गलत नजरों से देखते हैं तो आजीवक ईश्वर की तरफ से ऐसे अपराधी को किसी भी तरह का दंड देने के लिए स्वतंत्र हैं। अगर इन की मान ली जाए तो पूरा 'दलित विमर्श' बेकार हो जाता है। बताया यह जाना है, वाद–संवाद से ही चिंतन का विकास होता है। चिंतन समृद्ध होता है। यह सोचना गलत है कि इस से श्रम व्यर्थ जाता है। उम्मीद है आगे ये ऐसे नकारात्मक वाक्यों का प्रयोग नहीं करेंगे। उम्मीद यह भी है, ये आजीवक चिंतन क्रम में आजीवक इतिहास को आगे बढ़ाएंगे और इस पर ईमानदारी से काम करेंगे।

कहना यही है, जिसे दलित कहा गया है वह जन्मजात आजीवक पैदा होता है, वह आजीवक के रूप के जीता है और आजीवक ही मरता है। किसी भी तरह का कोई भ्रम और धर्मांतरण नहीं। ■

अस्मितामूलक चिंतन

महादेवी वर्मा के काव्य में 'स्त्री विमर्श'

डॉ. साक्षी *

वेद, उपनिषद या धर्म के संस्थागत रूपों (विभिन्न धार्मिक ग्रंथ केवल आध्यात्मिकता को प्रस्तुत नहीं करते बल्कि जीवन शैली एवं सामाजिक आचरण को भी निर्देशित करते है) में अलग अलग संसार के सभी तत्वों पर विचार हुआ है। इसके केंद्र में मानव समाज को बेहतर बना सकने की प्रेरणाएं थी। समझ का व्यवस्थित रूप जिसमें मूल्यों और नैतिकता का विशेष महत्व है उसी ने तार्किकता को विविध आयामों से प्रस्तुत किया। मानव का मानव को देय, मानव का संसार को देय, मानव का जगत से परे की अलौकिक अवधारणाओं जिसमें ईश्वर, आत्मा, तत्व इत्यादि भी सुसंगठित व सुव्यवस्थित कैसे रहे और कैसे हम पिछली गलतियों को न दोहराएं ऐसा प्रयास मुख्य था। लेकिन जैसे गुणों को अपने में ढालना होता है उससे अधिक प्रयास अवगुणों से दूरी बनाए रखने का है। दान, दया, करुणा, ममत्व, ईश्वरत्व और ममता आदि भाव सकारात्मक प्रेरणा के स्त्रोत हैं वहीं स्वार्थ, लोभ, मोह, अंधत्व, प्रतिद्वंद्वी भाव, ईर्ष्या, विद्वेष इत्यादि से सम्यक दूरी रखना उतना ही आवश्यक कहा जाता है। परंतु जब हम मानवता के विकास क्रम को देखते हैं तो पाते हैं कि मानव समाज समयानुरूप इन सभी की विलक्षणता में जीता आया है। एक ने मानवता को गति दी तो दूसरा विभेद का कारण बना। यही मानव भाव जब शक्ति संचय के साथ दूरगामी स्वार्थ को साथ में लेकर चलता है तब कई दीवारें मानवता के बीच खड़ी हो जाती हैं। ऐसी ही एक मजबूत दीवार स्त्री और पुरुष के बीच भी खड़ी हुई। इसी असमानता के तीक्ष्ण तत्वों ने विमर्श की सामाजिकी को जन्म दिया जिसमें स्त्री उस आधी आबादी की पीड़ा को दर्शाती है जो यदि न हो तो समाज रूपी धुरी हिल जाए और अपने होने का पूर्ण अर्थ व्याख्यायित भी नहीं कर पा रही। स्त्री चिंतन व विमर्श इसलिए आवश्यक बन जाता है ताकि स्त्री अपने स्व को रेखांकित कर पाएं और ससम्मान स्थापित भी कर सकें।

जब हम स्त्री के लेखन को पुरुष के लेखन से अलगाते हैं तो कुछ विशिष्ट तत्त्वों को सामने रखते हैं। सबसे पहला प्रश्न तो यही है कि स्त्री और पुरुष दोनों के लेखन को अलगाया क्यों गया। क्या नवजागरण की चेतना व अलख जिन

*** संपर्क** – सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, हिंदू कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय), दिल्ली

विद्वानों ने जगाई, वे स्त्री की स्थिति को दर्शा नहीं पा रहे थे। क्या वे स्त्री की यथास्थिति में अधिक परिवर्तन नहीं चाह रहे थे? ऐसे कई प्रश्न खड़े हो सकते हैं। इसका पहला कारण शिक्षा के स्तर में अपेक्षाकृत अधिक कमी थी। वहीं स्त्री जब लेखन कार्य में उतरी तो देखा गया कि उसका सभी स्थितियों को लेकर नजरिया अलग है। स्त्री की सोच, स्त्री के तर्क, स्त्री की कल्पनाएँ, स्त्री की अपेक्षाएँ, स्त्री का पूरा मनोविज्ञान जो उसे समाज में अलगाता है, उससे स्त्री की वैचारिकी निर्मित है। स्त्री उन भावों से अधिक जुड़ी होती है जो पुरुष एक स्त्री में देखता है। यह अंतर स्वानुभूति और परानुभूति का है। शिक्षा ने ऐसी अनेक सजग स्त्रियों का पथ प्रदर्शन किया है जो अन्य स्त्री हेतु प्रेरणा बन सकती है। स्वानुभूति और भावनात्मक ऐक्य के कारण स्त्री लेखन और स्त्री विमर्शात्मक चिंतन प्रामाणिकता पाता है। विमर्श व लेखन दोनों में कुछ बिंदुओं को देखा गया है जो इस प्रकार हैं–

स्व का बोध– सर्वप्रथम स्त्री को समाज में अपने होने की महत्ता को जानना होगा ताकि उसके अधिकार व कर्तव्यों का निर्वाह समवेत रूप से कर पाएं।

अन्यत्व की पीड़ा– स्त्री को समाज में सदैव स्वयं या अन्या की स्थिति में पातें हैं प्राथमिकता पुरुष व उससे जुड़े तत्वों को दी जाती है। यहां लड़ाई प्रथम व द्वितीय की नहीं समानता के व्यवहार की है और दोनों ही संसार को चलाने के महत्वपूर्ण नियामक हैं।

असमानता की धुरी– असमान व्यवहार व असमान सोच को लेकर संपूर्ण स्त्री चिंतन चल रहा है। इसमें स्त्री लेखन इस असमानता को उजागर करने वाला प्रमाण साबित हो सकता है। यह असमानता परंपरा से चली आकर धर्म, इतिहास, समाज, अर्थतंत्र, मनोविज्ञान लगभग सभी संस्थागत आयामों में दृष्टव्य है।

व्यक्ति विन्यास का नया रूपाकार– आधुनिकता अपने भूतकाल को नकारने में ना होने उससे प्रेरणा लेकर आगे के भविष्य में उससे बेहतर स्थितियों के निर्माण में हैं। परिवर्तन व, परिवर्धन व परिशोधन एक साथ चलकर व्यक्ति को दिशा निर्देश दे सकते हैं। स्त्री को भी अपने जीवन को बेहतर स्थिति में लाकर न्याय रुपाकर में ढालने की कोशिश स्त्री चिंतन व लेखन दोनों में मिलती है। समय और समाज में अपनी उपादेयता स्त्री को निर्धारित करनी होगी।

सृजन की शक्ति व सृजन की प्रेरणा– स्त्री को अपनी दैव प्रदत्त शक्ति का ज्ञान होना चाहिए। वह है उसकी सृजन क्षमता। सृजन के दायित्व से दूर रहकर या बोझ समझकर इससे अलग होना समाज को क्षीण करता जाएगा। बल्कि अपने सामर्थ्य का आभास पुरुषसत्ता को देना अपने आप में चुनौतीपूर्ण सही, परंतु आवश्यक है। अपनी लड़ाई को पुरुष या समाज विरोधी बनाने के स्थान पर, एक ऐसे समाज की निर्मिति के प्रयास पर जोर देना चाहिए जो समवेत विकास को लेकर चले।

अपने से साक्षात्कार– सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि स्त्री को कब, कहाँ, कैसे, जैसे प्रश्नों का उत्तर स्वयं में ढूँढ़ना होगा। क्या अपेक्षाएं हैं और कहाँ चूक है और किस तरह पूर्व की समस्याओं से निजाद पा सकते हैं यह खोज अपने से शुरू करनी होगी। अपने निर्णय की अधिकारिणी बनना होगा और अपनी गलतियों से सीखना होगा।

आत्मपीड़ा से पर पीड़ा तक की ध्येय यात्रा– आत्मपीड़ा के कारणों को खोजकर दूसरों की पीड़ा को समझने का समग्र प्रयास करना होगा। पुरुष समाज जिस भाईचारे पर चलता है उसी के बरक्स सकारात्मक व फलदायी बहनापा खड़ा करना होगा। यह यात्रा स्व से पर तक की यात्रा हो, जिसमे संवेदना का समाहार शामिल हो।

भारतीय व पश्चिम का संघर्ष– स्त्री को समझना होगा कि भारतीय व पश्चिम का समाज, संस्कृति, भूगोल, इतिहास सब अलग है। इन सभी आधारों में पर्याप्त अंतर संभव है क्यूँकि व्यक्ति अपने परिवेश की निर्मिति होता है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सभ्यता, संस्कृति, धर्म, भूगौलिक विशिष्टताएँ समाज के मनोविज्ञान को निर्मित करती है। एक के सत्य का दूसरे से अलग होना संभव है। पश्चिम विकास–क्रम में आगे दिखता है, परंतु क्या वास्तव में आगे है या इसके पीछे भी उपनिवेशवादी ताकतें बाजार निर्मिति कर रहा है इसकी पहचान आवश्यक है।

सामासिक संस्कृति में योगदान– खंडन के स्थान पर एकता के सूत्रों का निर्माण कर पाना और एक ऐसा संवेदना से पूर्ण समाज निर्मित करना जिसमें सभी को उचित अवसर पर विकास करने की प्रेरणा प्राप्त हो।

विविध क्षेत्र में हस्तक्षेप– स्त्रियों को उन सभी क्षेत्रों में हस्तक्षेप कर, सही विकल्प का चुनाव करना होगा जो उनके लिए सही है और जिनसे उसे दूर रखा गया।

केंद्र से हाशिए तक की दूरी– अधिकांश चिंतन और परिवर्तन का केंद्र समर्थ और सक्षम समाज तक झुका रहता है। वास्तव में जिनको मदद की आवश्यकता है उन तक कैसे पहुंचा जाये यह अनिवार्य है। साथ ही लोकतांत्रिक मूल्यों सहित स्त्री हेतु कानूनन सुविधाओं को कैसे दूर हाशिए पर खड़ी स्त्री तक पहुँचाया जाये, यह चिंता का विषय होना चाहिए।

उपरोक्त विषय सभी स्त्री विषयक चिंतन के वे पड़ाव बन सकते हैं जहां स्त्री को अपने होने का अर्थ सहित अपने सामाजिक महत्व का भी लक्ष्य रखना होगा। कैसा जीवन जीना है और किस चीज अपेक्षा है इस बीच की दूरी में समन्वय स्थापित करना होगा। चुनौतियों से गुजर कर आई स्त्रियां एक प्रेरणा तो बन जाती है लेकिन इन प्रेरणाओं में चयन की स्थितियों को रखना अपेक्षित है। हम समाज को जोड़ रहे हैं या खंडित विकास की ओर बढ़ रहे हैं, यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता है। विभाजित जीवन आपको विभाजित लक्ष्य से संचारित

करता है साथ में दृष्टि को भी खंडित कर देता है। समावेशी विचार स्त्री चिंतन का आधार हो तो अधिक बेहतर है। इसमें न केवल सभी तबके की स्त्रियों के समावेशन की बात है, इसके अतिरिक्त महत्वपूर्ण संबंधों में आपके संघर्ष में जोड़ना और उनमें संवेदना पीड़ा को महसूस करना आवश्यक है। स्त्री के हाथ में मातृत्व रूपी वरदान है। साथ ही आवश्यकता अनुसार अनुशासन और स्नेह भी अनिवार्य तत्त्व है। इन्हें छोड़ कर भी इनके समवेत रूप को लेकर पीढ़ियों को सृजित करने की आवश्यकता है। प्रतिद्वंदिता के स्थान पर उन्नति का लक्ष्य अधिक वरणीय है। महादेवी वर्मा 'शृंखला की कड़ियां' नामक पुस्तक में लिखती हैं कि 'ज्ञान प्राप्त करने के लिए ज्ञाता की अपेक्षा होती है।' वे लिखती हैं– "समस्या का समाधान समस्या के ज्ञान पर निर्भर करता है और यह ज्ञान ज्ञाता की अपेक्षा रखता है। अंतः अधिकार के इच्छुक व्यक्ति को अधिकारी भी होना चाहिए। सामान्यतः भारतीय नारी में इसी विशेषता का अभाव मिलेगा। उसमें साधारण दयनीयता है और कहीं असाधारण विद्रोह है।"

यह समाज को तंज के समान भी प्रतीत हो सकता है परन्तु वास्तविकता यही है। जब आपको अपने इर्द–गिर्द की चुनौतियां नजर नहीं आएंगी तो कोई कैसे उसके समाधान का प्रयास कर सकता है। स्त्री को जन्म से ही नियति का पाठ पढ़ाया जाता है। अपनी दयनीयता के प्रति उसको अनजाने ही सतर्क कर दिया जाता है। साथ ही वो अपने आस पास उस नियति के क्रम का निर्वाहित करती हुई स्त्रियां पाती है। ऐसे में स्वयं के प्रति घृणा उत्पन्न कर जीवन को बोझ समान मान लेती है। स्त्री या तो इसे सहर्ष स्वीकारे या जबरन, लेकिन देखती वही होते हुए है जो उसे एक स्त्री के रूप में परंपरा के तौर पर पढ़ाया जाता है। महादेवी लिखती हैं– "प्रत्येक बालिका उत्पन्न होने के साथ ही अपने आपको ऐसे पराए घर की वस्तु मानने और बनने लगती है जिसमें न जाने की इच्छा करना भी उसके लिए पाप है... उसके कोमलता, करुणा, आज्ञाकारिता, पवित्रता आदि गुण उसे पुरुष की इच्छानुकुल बनने के लिए आवश्यक है।"

यदि महादेवी स्त्री के इस मनोविज्ञान पर चोट करना चाहती हैं, वास्तव में वह बीमारी की नब्ज पर चोट करती हैं। सिमोन जब लिखती है कि 'स्त्री बनती नहीं बनाई जाती है' तो वह भी स्त्री के बनाएं गए मनोविज्ञान को रेखांकित करती है जिसमें परिवार से लेकर समाज तक के नियम कानून की महत्ती भूमिका है। दोनों ही स्थितियों में स्त्री जीवन के इतिहास से लेकर उसके मानस में बंधी बंधाई मनोवैज्ञानिक स्थिति का भी अवलोकन है। सिमोन जहां स्त्री को गर्भकेंद्रित कर उसके विकास में अवरोधी मानती है वहीं भारतीय चिंतन को देखें स्त्री को उसका गर्भ संसार का सबसे बड़ा वरदान माना जाता है परन्तु महादेवी ने समाज में उस वरदान का उचित सत्कार ना होने की बात कही। प्राथमिकता पुरुष समाज और पुरुष सत्ता को मिलती है स्त्री केवल द्वयं या अन्य बन कर रह जाती है। महादेवी इस स्थिति का ऐतिहासिक आधार पर विश्लेषण करती हैं। आरम्भ में स्त्री की

सम्मानजनक स्थिति और नारीत्व को उचित सम्मान हमारे धर्म और दर्शन में मिलता है। परंतु उत्तरोत्तर स्थितियां दमनकारी बनती गई। महादेवी लिखती हैं– "उस समय जाति की विधात्री होने के कारण स्त्री आवश्यक और आदरणीय तो थी ही, साथ ही, उसके जीवनचर्या सम्बन्धी नियम भी अधिक कठोर नहीं बनाए जा सके। सह–धर्मिणीत्व के अभाव में भी समाज उसकी सन्तान को त्याज्य नहीं कह सकता था... वह मत्स्योदरी होकर भी राजरानी के पद पर प्रतिष्ठित हो सकती थी और द्रौपदी होकर भी पतिव्रता के आसन से नहीं हटाई जा सकती थी... जैसे–जैसे भिन्न परिस्थितियों से उसकी सामाजिक उपयोगिता घटती गई, वैसे–वैसे पुरुष, व्यक्तिगत अधिकार भावना से उसे घेरता गया... जहाँ व्यक्तिगत अधिकार भावना ने स्त्री के सामाजिक महत्व को अपनी छाया से ढक लिया। एक बार पुरुष के अधिकार की परिधि में पैर रख देने के पश्चात् जीवन में तो क्या, मृत्यु में भी वह स्वतन्त्र नहीं।"

आज भी भारतीय संस्कृति के आदर्श स्वरूप में स्त्रीत्व की सकारात्मक औजस्विता परिलक्षित है। महादेवी अपने समय की टकराहटों को देख रही थी साथ ही उसके बरक्स चल रहे राजनीतिक और सामाजिक सुधार के साथ स्त्री की चिंताएँ अपने समाज में देख रही थी। अतीत के पुनरुत्थान का आह्वान जन की चेतना तक पहुँचना उस समय आवश्यक था। महादेवी ने भी धर्म और दर्शन में स्त्री की स्थिति को दिखलाकर उसकी तुलना कुरूप होती स्थितियों से करती हैं। मानव समाज में मनुष्य को स्त्री और पुरुष आदर्श पर दो जातियों में विभक्त करना और पुंसवादी सोच को श्रेष्ठ मानना सबसे बड़े संघर्ष का कारण है। "समाज की दो आधार शिलाएँ हैं, अर्थ का विभाजन और स्त्री–पुरुष सम्बन्ध। इनमें से यदि एक की भी स्थिति में विषमता उत्पन्न होने लगती है, तो समाज का सम्पूर्ण प्रासाद हिले बिना नहीं रह सकता।"

महादेवी स्त्री और पुरुष दोनों को ही समाज का अपेक्षणीय तत्व स्वीकारती हैं। किस एक की स्थिति कम ज्यादा होने से समाज की निर्मिति भी अनगढ़ बन जाती है। ऐसे में किसी एक के प्रति श्रेष्ठ भाव और दूसरे के प्रति हीन भाव पीढ़ी दर पीढ़ी संक्रमित हो और अधिक जटिल बन जाता है। जटिल स्थितियों में भी स्त्री के परिवार रूपी इकाई को सहेजे रखना स्त्री का एक अमूल्य योगदान स्वीकारती हैं। आलोचकों का मानना है कि "औरत लम्बे समय से बायोलॉजिकल सारतत्ववाद (essentialism) के तौर पर व्याख्यायित होती रही है। इसी कारण यह विश्वास भी जम गया है कि बच्चा पैदा करना औरत की अपरिहार्य भूमिका है... क्योंकि उसी से चरित्र गठन होता है। यही बुनियादी समझ है जिसके आधार पर हजारों वर्षों से विभिन्न समाजों और देशों में औरत के समर्पणकारी और मातहत रूप की व्याख्या होती रहती है। उसकी स्थिति संस्कृति–दर–संस्कृति बदलती रही है।"

महादेवी सन् 1935–1938 तक चांद नामक पत्रिका की संपादक थीं।

'चाँद' पत्रिका का सम्पादन सन् 1922 में रामरख सेहगल ने किया, जो महादेवी की अध्यापिका विद्यावती सेहगल के पति थे। यह पत्रिका स्त्री केन्द्रित मुद्दों को उठाती थी व स्त्री रचनाकारों की कृतियों को पत्रिका में छापकर साहित्य में स्त्रियों के योगदान को विशेष प्रश्रय देती थी। महादेवी का लेखकीय व्यक्तित्व में सुधार के साथ क्रांति की चेतना इसी प्रोत्साहन से मिली। किसी बड़ी पत्रिका का संपादन कार्य हिंदी में पहली बार किसी महिला ने किया। उस दायित्व का निर्वाह उन्होंने पूर्ण सजगता से किया। उन्होंने 1935 में स्त्री केंद्रित 'विदुषी अंक' निकाला। स्त्री चिंतन की प्रेरणा उनके संपादकीय व लेखकीय दायित्व में भी दिखती है।

महादेवी से पहले कई स्त्रियाँ जैसे ताराबाई शिंदे, एक अज्ञात हिंदू औरत, पंडिता रामबाई जैसे स्त्रियाँ लेखन के क्षेत्र में प्रवेश कर चुकी थी और इनके लेखन के विषय काफी ज्वलंत रहते थे। सन् 1935 में 'चाँद' का 'विदुषी अंक' निकला, जिसका सम्पादन महादेवी वर्मा ने किया। इस दौरान उन्होंने स्त्रियों को आत्मसजग बनाने का प्रयास किया तथा नई लेखिकाओं की खोज कर उनकी रचनाओं को प्रकाशित किया। उन्होंने स्त्रियों में आत्मचेतना और आत्मविश्वास के विकास के लिए उनकी शिक्षा के प्रसार का प्रयास किया। उनकी रचनाशीलता को आगे बढ़ाने के लिए महिला कवि–सम्मेलन और महिला गल्प–सम्मेलन का आयोजन किया। इसके साथ ही इन्होंने तीस के दशक में मीरा जयन्ती मनाने की भी शुरुआत की। 'चाँद' पत्रिका में ही इनके स्त्री–समाज केन्द्रित निबन्ध प्रकाशित हुए और सन् 1938 में इस पत्रिका का सम्पादन कार्य छोड़कर भी वे इस कार्य में संलग्न रहीं। इनके इन्हीं निबन्धों का संकलन 'शृंखला की कड़ियाँ' में मिलता है। साहित्य में भारतीय नारी की सामाजिक स्थिति को किसी स्त्री रचनाकार द्वारा प्रस्तुत करना कोई प्रथम प्रयास न थे, इससे पहले 1882 ई. में महाराष्ट्र की ताराबाई शिन्दे की पुस्तक 'स्त्री–पुरुष तुलना' व पंजाब की एक अज्ञात हिन्दू महिला नाम से सन् 1882 में 'सीमन्तनी उपदेश' व पंडिता रमाबाई की सन् 1887 में प्रकाशित पुस्तक 'The High Caste Hindu Women' प्रकाश में आ चुकी थी जिसका लेखन भी भारतीय समाज में स्त्री की छवि के समक्ष प्रश्न चिह्न लगाकर परम्परागत रूढ़िग्रस्त समाज के प्रति आक्रामक तेवर प्रस्तुत करता था।

महादेवी स्त्री के जीवन को रुपायित करते हुए उसकी दयनीय दशा को बताते हुए लिखती है 'जन्म से अभिशप्त जीवन से संतप्त अक्षय वरदानमयी नारी।' यह पंक्ति स्त्री के सर्वोच्च गुण व ताकत दोनों को दिखाने के साथ उसके दयनीय व अभिशप्त जीवन का भी संकेत देती है। स्त्री का मातृत्व अर्थात सृजन और पोषण क्षमता को उचित सम्मान न मिलने पर स्त्री को आज यही मातृत्व उसकी उन्नति में बाधक लगने लगता है। विशेषकर तब जब वह अर्थ शक्ति को संजोने लगती है और अपने इर्द गिर्द भौतिक आवश्यकता को पूरे करने वाले संसाधन संजोने लगती है। पुरुषसत्ता ही इसके पीछे का सर्वप्रमुख कारण स्वीकारा जाए

तो यह गलत नहीं। संसाधनों व सुविधाओं को शक्ति और बहुत सुलभता के आधार पर जब नापा जाए तो मातृत्व, करुणा, सहृदयता जैसे चिर अपेक्षित गुण भी पीछे रह जाते हैं। जैसे–जैसे स्त्री ने चेतना के तत्वों को समझा और आधुनिकता का पर्याय भौतिकता बनने लगा तब वह भी अपनी गति उस ओर ही बढ़ाने लग गई। जो उसके जीवन के साथ एक अधूरापन और खोखलापन भी लाया। विचारणीय है कि ऐसी स्थितियों को बदला कैसे जाए। आज की स्त्री अपनी स्वतंत्रता में पुरुष की कामना तो करती हैं लेकिन पुरुष का अपेक्षा से अधिक अधिकार भाव नहीं स्वीकारती। ऐसे में विवाह, मातृत्व उसको स्वतंत्रता के बाधक प्रतीत होने लगते हैं।

हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श के इतिहास में मील का पत्थर मानी जानी वाली दो स्त्रियां है, जो दो अलग भौगोलिक राजनीतिक परिवेश की उपज होते हुए भी एक समय–समाज से जुड़ी हुई हैं, महादेवी और सिमोन। जब हम विमर्श के तार्किक धरातल पर जाते हैं तो दोनों में स्त्री की सामाजिक स्थिति के प्रति चिंताएं प्रकट होती हैं। जब स्त्री विमर्श के पूर्व व पश्चिम ढर्रे लगातार तर्क के स्तर पर टकराते हैं तो उनपर तुलनात्मक दृष्टि से विचार अपेक्षित बन पड़ता हैं। स्त्री इतिहास से अब तक अपने समय समाज में किन प्रकार के असंतोष से जूझती आई है और उसके कारणों की तर्कसंगत पड़ताल हेतु यह तुलनात्मक विधि कारगर साबित हो सकती है। साहित्य में तुलना का कार्य एक प्रकार से अनेकता में एकता के तत्त्वों का उद्घाटन है। इस तुलना का विषय दो रचनाएँ, दो रचनाकार, दो विभिन्न या समान काल, दो विधाएँ आदि कुछ भी हो सकते हैं। परन्तु तुलना के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है दो या उससे अधिक विषयों में एकता–सूत्र को खोजना। यही एकता के सूत्र, इनके परस्पर सह–सम्बन्ध को दर्शाते हैं। जिस प्रकार तुलना में हम पारस्परिक समानता को महत्त्व देते हैं, उतनी ही महत्त्वपूर्ण उनकी व्यक्तिगत भिन्नता भी होती है जो उनके परस्पर अस्तित्व को अलगाती हैं। यही भिन्नता तुलना के क्षेत्र में इनकी स्वायत्ता की नियामक होती हैं।

1907 में महादेवी का जन्म हुआ और 1908 में सिमोन का। एक ही समय में पैदा हुई दो सशक्त स्त्रियां जिनकी चुनौतियां कुछ भिन्न थी जिस कारण उनकी दृष्टियों में भी अंतर पाया जाता है। कोई भी व्यक्ति जीवन के आरंभिक समय को जैसा जीता है जो अनुभव उन्हें सिखाते हैं उसका बहुत अधिक प्रभाव उनके लेखकीय व्यक्तित्व और उनकी दृष्टि पर देखा जाता है। दोनों की पारिवारिक स्थिति में समता मिलती है दोनों उच्च वर्गीय व बुद्धिजीवी परिवार से हैं। दोनों की माँ परंपरा का निर्वाह करने वाली स्त्रियां थी और दोनों के पिता उदारवादी व सुधारवादी वृत्ति से प्रेरित थे। महादेवी के पिता गोविंद प्रसाद शिक्षित आर्यसमाजी सुधारवादी थे और सिमोन के पिता जॉर्ज दी बोउवार अभिजात्य वर्ग के साहित्य अध्ययन में रुचि रखते थे। दोनों के पिता ने उन्हें शिक्षा व लेखन में प्रोत्साहित भी किया। परंतु अपने समाज व दुनियादारी की पहरेदार उनकी

माताओं से अवरोध मिलता रहा। महादेवी की मां हेमरानी देवी और सिमोन की मां फरान्सुआज दी बोउबार दोनों धार्मिक, समाज भीरु और परंपरा का निर्वाह करने वाली स्त्रियां थीं। दोनों लेखिकाओं की पारिवारिक पृष्ठभूमि बताने का कारण विमर्शों में घरेलू मनोविज्ञान वृत्ति की निर्मिति पर ध्यान देना है। वैसे भी मनोविज्ञान में माना जाता है कि व्यक्ति की पहली प्रेरणाएं और अधिकांश विकास उनके मानस पर उनके बचपन में छप जाते हैं। इन्हीं अंतर्विरोधों में बालिका पुरुष को श्रेष्ठ और स्त्री को दोयम भाव से देखने लग जाती हैं।

महादेवी और सिमोन दोनों प्रखर नारीवादी मानी जाती है। दोनों ने अलग विधाओं में भी लिखा परंतु उनके निबंधों का तेज स्त्री समाज को आलोकित करता है और पथ प्रदर्शक बनता है। महादेवी की रचना 'श्रृंखला की कड़ियां' में लिखे निबंध अलग–अलग स्वतंत्र रूप में लिखे गए हैं उनका संकलित स्वरूप 'श्रृंखला की कड़ियां' में मिलता है। गहनता में देखने पर प्रतीत होता है कि सिमोन और महादेवी दोनों धरातल लगभग समान है। बल्कि भारतीय स्त्री के संघर्ष को मद्दे नजर रखते हुए महादेवी का स्थान कई बार ऊँचा भी प्रतीत होता है। महादेवी मुद्दों को रैडिकल अर्थात उग्रता की दृष्टि में नहीं देखती बल्कि मूल समस्या को समझ उसकी जड़ को बदलने के लिए प्रयासरत दिखती हैं। यदि भारत और फ्रांस में चेतना या सुधारवादी वृत्ति को देखें तो फ्रांस में अपेक्षाकृत लगभग सो वर्ष पूर्व धरातल बनने लग गया था। इसलिए सिमोन को महादेवी के विचार पक्ष का अगला कदम माना जाए तो यह गलत नहीं होगा।

"सिमोन को प्रेरणा मार्गदर्शन, बोखोफपन फेड्रिक एंगेल्स जैसे नृतत्व शास्त्री और मार्क्सवादी समाजवादी विचारकों से मिलती है। यह मूलतः इतिहास के क्रम का अग्रिम पड़ाव माना जाता है जहां तर्क क्षमता और वैज्ञानिक भौतिक आधार पर समाज को लक्षित किया जाता है। आरंभिक दौर अपेक्षाकृत अधिक उदार रहता है। दोनों ही पुस्तकों में लेखिकाओं ने अपने विवेकानुसार अतीत के पन्नों से चुनकर उन पृष्ठों का उद्‌घाटन किया है जहाँ स्त्री की स्थिति उनकी समकालीन स्त्री की अपेक्षा बेहतर लगी। इसके लिए महादेवी वर्मा हिन्दू संस्कृति से जुड़े गार्गी, मैत्रेयी जैसे पौराणिक पात्रों का वर्णन करती हैं जिन्हें समान शिक्षा व पुरुष के समान अधिकार–योग्यता प्राप्त हुई।"

स्त्री को भौतिकतावादी दृष्टि से देखने का ही परिणाम है कि स्त्री की स्थिति आज भोग्या स्वरूप है। संसाधन जिसके आधिपत्य में रहेगा वही उसका उपभोग करेगा। स्त्री को वस्तु स्वरूप मानना उसकी आत्मा का अपमान है, उसके अस्तित्व को मटियामेट करने का प्रावधान है। इसी पर महादेवी स्त्री के गुणों को जिसमें ममता, करुणा, दया, त्याग, क्षमा चिर अभिलाषी व चिर अपेक्षणीय भाव को स्त्री से जोड़ती है, जो आज कल और सदैव समाज के लिए अनिवार्य होगा। महादेवी स्त्री की वैवाहिक दासता, परायेपन, सामाजिक उपेक्षा की बात करती हैं और स्त्रीत्व को समाजोपयोगी आभूषण में गणना करती हैं। ऐसे में अमीर,

मध्यवर्गी, गरीब तीनों वर्ग की स्त्रियों को आत्मकेंद्रितता से मुक्त होकर समाज में अपने होने के अर्थ को स्त्री की उपलब्धि मानती हैं। शृंखला की कड़ियां निबन्ध संग्रह में 'नारीत्व का अभिशाप', 'आधुनिक नारी', 'हिंदू स्त्री का पत्नीत्व', 'जीवन का व्यवसाय' जैसे निबंध में स्त्री की यौनिकता, वर्जनाएं, अर्थ विपन्नता और शिक्षा, प्रमुख कातरता, और पुरुषसत्तामक समाज में स्त्री की विरोधाभासी स्थिति और उनके अंतर्द्वंद्व की बात रखती हैं। महादेवी जहां इन रूपों में उग्र रवैया रखती हैं महादेवी इन सभी में स्त्री को सहेजने और पुरुष को सहयोगी स्थिति में रखती है। रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं– "मिथकों और किंवदन्तियों का सहारा लेकर महादेवी वर्मा स्त्री स्वभाव की जिन विशेषताओं का सामान्यीकरण करती हैं, उन्हीं के विश्लेषण को वैज्ञानिक आधार देने की प्रक्रिया में सीमोन द बोउवार ऐतिहासिक भौतिकवादी दर्शन और मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन से उत्पन्न सिद्धान्तों की सूक्ष्म जाँच करती हैं।" स्त्री लेखन : स्वप्न और संघर्ष, रोहिणी अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन पृष्ठ 136, यद्यपि महादेवी कुछ हद तक यथास्थितिवादी भी प्रतीत होती है। वह अपने समाज को खंडित कर आगे बढ़ने की चेतना प्रवाहित नहीं करना चाहती। महादेवी धर्म में लचीलापन चाहती है।

स्त्री विमर्श का महत्त्वपूर्ण मुद्दा जो वर्तमान समय में सामने आया है वह है– वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था के आधार पर कोई असमानता न बरतते हुए सम्पूर्ण स्त्री समाज को विमर्श के केन्द्र में रखना। यह मूलतः उत्तर संरचनावाद व उत्तर आधुनिकतावाद के आगमन के बाद ही अधिक प्रचलन में आया है। परन्तु 'शृंखला की कड़ियाँ' में निम्नवर्गीय श्रमिक स्त्रियों के दासत्व का प्रश्न भी उठाया गया है। परन्तु परवर्ती साहित्य में वह जितनी सूक्ष्मता से दलित, श्रमिक, हाशिये के विमर्श के रूप में सामने आया है वह महादेवी के लेखन और चिंतन से जुड़ता अवश्य है। महादेवी चेतावनी स्वरूप 'शृंखला की कड़ियाँ' निबंध संग्रह में लिखती हैं कि "वे केवल तभी तक आदरहीन मातृत्व तथा अधिकार शून्य पत्नीत्व स्वीकार करती रह सकेगी, जब तक उन्हें अपनी शक्तियों का बोध नहीं होता, बोध होने पर वे बन्दिनी बनाने वाली शृंखलाओं को स्वयं तोड़ फेंकेगी। परन्तु उस दशा में अशान्ति और संघर्ष अवश्यम्भावी है जिसके कारण बहुत समय तक समाज की सुचारू व्यवस्था होनी कठिन हो जाएगी।"

महादेवी के लेखन को उनके जीवन की छवि से उद्भूत भी माना जा सकता है। बालिका के रूप में शिक्षा की चाह, विवाह की बाध्यता, परंपराओं के निर्वाह की अड़चन, अपने इर्द गिर्द की स्त्रियों की दयनीय स्थिति, और इन सभी विषम स्थितियों में नवजागरण की चेतना। ऐसी विकट स्थिति में शिक्षा और अर्थ स्वावलंबन ही मुक्ति का दिग्दर्शक प्रतीत होता है। अपने समय के समाज में एकाकी स्त्री हेतु स्वीकृति और सम्मान हेतु बहुत संयमित जीवन आवश्यक था। विरक्ति और वैरागीपन में भक्ति प्रेम उनकी तीव्र भावना को प्रकट करता है। वह जानती थी कि आक्रोश और खंडित भाव संभवतः एक व्यक्ति के लिए मुक्ति का

कारक हो सकता है परंतु उनके पास लक्ष्य अपने जैसी अनेक स्त्रियों को विसंगतिपूर्ण परिवेश से मुक्त करना था। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं, "श्रृंखला की कड़ियाँ, नारी–यातना पर लिखे गए निबन्धों का संग्रह मात्र नहीं है, वह एक बुद्धिवादी–आन्दोलन की आग है। लेकिन इन निबन्धों का स्वाधीनता–आन्दोलन के दिनों में उतना स्वागत नहीं हुआ–जितना होना चाहिए था।"

ए. अरविंदाक्षन लिखते हैं "महादेवी वह स्त्री हैं जो युग–युग से मूक, दग्ध, आहत और भीगी भारतीय स्त्री की ऐसे वक्त उठी आवाज थीं जब औरत की स्वाधीनता और उसके विमर्श का प्रायः कोई बोल न था... महादेवी की अभिव्यक्ति में एक गहरी अपील और खरापन इसलिए भी है कि उन्होंने स्वयं अपने जीवन में यह दुःख झेला था।"

कोई भी रचनाकार अपनी वैचारिकी के निर्माण में अपने परिवेश और परिस्थिति की भूमिका को नकार नहीं सकता। सम्पूर्ण जीवन का घटनाक्रम उसके मनोविज्ञान की निर्मिति करती है और वह जो शब्द, जो प्रतीक, जो विषय लेती है उसमे आत्मिक जुड़ाव उसे और अधिक बलवती बनाता है। महादेवी के संदर्भ में भी ऐसा ही प्रतीत होता है। उनकी स्वानुभूति और परानुभूति दोनों मिश्रित रूप में उनके लेखन को प्रभावित करते हैं। उनके लेखन में एक और रहस्यवादिता भक्ति करुणा दुराव छिपाव मिलता है तो वही गद्यात्मक विधाओं में उन्होंने समाज का यथार्थ चित्रण किया है। स्त्री भी उसमे से एक महत्वपूर्ण विषय व चिंता के रूप में मिलती हैं।

महादेवी की इस नारीवादी छवि के लिए मैनेजर पाण्डेय ने अपने लेख श्रृंखला की कड़ियाँ 'मुक्ति की राहें' में कुछ इस प्रकार लिखा है– "श्रृंखला की कड़ियों' के माध्यम से महादेवी एक स्त्रीवादी दार्शनिक रूप में हमारे सामने आती हैं। हिन्दी में स्त्री जीवन की वास्तविकताओं और कामनाओं का कलात्मक चित्रण करने वाली लेखिकाएँ और भी हैं तथा स्त्री–स्वाधीनता का आन्दोलन चलाने वाली कार्यकर्ताओं की भी कोई कमी नहीं है, लेकिन भारतीय स्त्री की जटिल समस्याओं, उसकी दासता की दारुण स्थितियों और उसकी मुक्ति की दिशाओं का मूलगामी दृष्टि से जैसा विवेचन महादेवी वर्मा की पुस्तक 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में है वैसा हिन्दी में अन्यत्र कहीं नहीं है। 'श्रृंखला की कड़ियाँ' का उद्देश्य उस भारतीय नारी की स्थिति का विश्लेषण है जो महादेवी वर्मा के शब्दों में 'जन्म से अभिशप्त और जीवन से सन्तप्त' हैं।"[24]

■

हिन्दी गजलों में स्त्री स्वर

जियाउर रहमान जाफरी *

उर्दू अदब का एक बड़ा हिस्सा शेरो–शायरी का है। यह गजल बादशाहों के यहाँ पली–बढ़ी। यहाँ तक कि ज्यादातर बादशाह और नवाब खुद शेरो–शायरी करते थे। उनके दरबार में सुखन की महफिल सजती थी, और शायरों को दादो –तहसीन के साथ इनामात भी फराहम किए जाते थे। दक्षिण के कुली कुतुब शाह पहले साहिबे दीवान शायर माने जाते हैं, जो खुद एक बादशाह भी थे।

उर्दू शायरी की इस दीर्घ परंपरा में स्त्री गजलकारों का जिक्र दूर तक नहीं मिलता। यह अलग बात है कि शायरी में उसी औरत के इश्क, हुस्न, अदा और नाजो नखरे दिखाए जाते थे।

सन 1188 के आसपास किसी चंदाबाई का जिक्र आता है, जिसे उर्दू की पहली शायरा माना गया है। उनके बारे में ज्यादा जानकारी नहीं है। कहते हैं कि उनका पूरा नाम माह लका चंदाबाई था, जो शेर मोहम्मद खाँ ईमां से शायरी की इस्लाह लेती थीं। वह हरफनमौला थीं। उन्हें संगीत की भी जानकारी थी। घुड़सवारी तीरंदाजी और कुश्ती का भी बेहद शौक था। वह निहायत खूबसूरत शायरा थीं, जिनकी शायरी के साथ उनके हुस्न के भी चर्च थे। 1213 के आसपास उनकी कोई किताब आई जिससे एक शेर देखे जा सकते हैं –

आता नहीं है ख्वाब में भी यार अब तलक
है मुंतजिर कि दीद–ए–दीदार अब तलक

इस दौर की शायरा में लुत्फन्नीसार बेगम, शौक अख्तर, आबिदा खफी वगैरह के नाम काबिले जिक्र हैं। शौक बेगम का एक मशहूर शेर है –

नीम बिस्मिल न छोड़ जाना था
हाथ एक और भी लगाना था

यह वह वक्त था जब औरतों का शायरी करना अच्छा नहीं समझा जाता था, जो कुछ शायरी करती थीं उन्हें लोग उस सम्मान से नहीं देखते थे।

गजल की उस शुरुआती दौर में एक ऐसी शायरा का भी जिक्र आता है, जो छुपकर शायरी करती थीं, लेकिन जब घर वालों को पता चला तो उनका दीवान जला दिया गया। वह इस दुख को बर्दाश्त नहीं कर सकीं, और इस दुनिया

* संपर्क – प्राध्यापक, हिन्दी, ग्राम+पोस्ट–माफी, वाया–अस्थावां, जिला–नालंदा, बिहार

से रुखसत हो गईं।

गजल शायरा का असल दौर बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से देखा जाता है, जब अदा जाफरी, जोहरा निगाह, किश्वर नाहीद, फहमीदा रियाज, सलमा शाहीन और परवीन शाकिर वगैरह की गजलें हमारे सामने आईं।

देखने की बात यह है कि उस समय जब पूरी उर्दू शायरी में सिर्फ इश्क के चर्चे होते थे। यह स्त्री गजलकार उस रिवायत को तोड़ती हुई पुरुष सत्ता के प्रति अपनी अस्वीकृति दर्ज करती हैं। यह अलग बात है कि स्त्री–विमर्श की शुरुआत इन गजलों से नहीं मानी जाती। एक मुद्दत तक उन्हें दबा कर रखा गया, अब जिसका वो विरोध करती हैं,और अपनी आवाज को घर की चहारदिवारी से बाहर निकालकर खुली फिजा तक पहुँचने की फिक्र करती हैं। कुछ शेर देखें –

हाथ काँटों से कर लिए जख्मी
फूल बालों में इक सजाने को
–अदा जाफरी

आरजू ने कमाल पहचाना
और तअल्लुक को ताक पर रक्खा
–किश्वर नाहीद

वो मेरे होंठ पर लिक्खा है जो हर्फ मुकम्मल हो न सका
वो मेरी आँख में बसता है जो ख्वाब कभी देखा भी नहीं
–फहमीदा रियाज

देखो तो लगता है जैसे देखा था
सोचो तो फिर नाम नहीं याद आते हैं
–जोहरा निगाह

इतना समझ चुकी थी मैं उसके मिजाज को
वो जा रहा था और मैं हैरान भी न थी
–परवीन शाकिर

उर्दू शायरी की इसी जमीन पर हिंदी गजलें आती हैं। यह महिला गजलकार बहुत दिनों तक इंतजार नहीं करतीं। दुष्यंत के बाद जो हिंदी गजल की लहर आती है, उसमें महिला गजलकारों का भी अवदान कम नहीं है। यह हर खित्ते में पुरुष गजलकार के समकक्ष ठहरती हैं। इन महिला गजलकारों की गजलों की जो सबसे बड़ी विशेषता उनकी व्यापकता है। उनकी शायरी में उनकी जिन्दगी के तजुर्बे हैं। दुख–सुख है, घर परिवार की जिम्मेवारी है। बच्चे हैं, ऑफिस हैं, लेकिन उनकी शायरी की जो सबसे बड़ा रंग है वह उनकी अस्वीकृति है। वह एक ऐसी महिला तैयार कर रही हैं, जिसका अपना अस्तित्व है। अपनी जिन्दगी है। अपने विचार हैं, और वह हर चीज जो उन पर थोपा गया है। वह उसका विरोध करती है। असल में हम सब स्त्री को एक पात्र समझने की भूल कर बैठते हैं। स्त्री एक किरदार नहीं है। वह शक्ति, ज्ञान श्रद्धा, जरूरत और

विश्वास भी है। जो स्त्री कभी चोरी–छुपे कविता रचती थी। आज वह दृढ़ता के साथ अपनी बात रख रही है। महादेवी वर्मा कहा करती थी कि स्त्री को केवल देवी के रूप में नहीं एक मनुष्य के रूप में देखा जाना चाहिए। हमारी स्थिति यह है कि हम मनुष्य का मतलब ही पुरुष समझ बैठे हैं। स्त्रियाँ तो मनुष्य होती ही नहीं। गजल शुरू से स्वयं को अभिव्यक्त करने का लोकप्रिय माध्यम रही है। हिंदी गजल के संस्कार में ही विरोध का स्वर है। वह स्वीकार नहीं इनकार करना जानती है। दुष्यंत की शायरी में उनकी यही नाराजगी झलकती है। अदम सामाजिक विषमता के विरुद्ध आवाज उठाते हैं। बाद के शायरों का भी मूल स्वर यही रहा है। गजल की यह स्त्री बाहरी दुनिया के किसी दबाव में नहीं आती, बल्कि खुद आगे बढ़कर अपनी अस्वीकृति दर्ज करती है। कुछ शेर देखें –

मेरा मिजाज मुझे और कुछ न दे लेकिन
मुझे जमीर का कातिल नहीं बनाएगा
–सोनरूपा विशाल

हम नहीं खिलौना है लड़कियाँ बताएँगी
आप कस न पाएंगे चाबियाँ बताएँगी
–अंजु केशव

खतायें आपने की और ठीकरा उनका
बड़े मजे से मुकद्दर के सर पे फोड़ दिया
–मधु मधुमन

बेटियों की आबरू के नाम पर
मोमबत्ती फिर जला ली जाएगी
–नेहा नेह

तोड़ चिलमन सड़क पर उतर जाएँ गे
यह न समझो कि हम तुमसे डर जाएँगे
–नीलम श्रीवास्तव

दर्द की सिसकियाँ अब नहीं अब नहीं
जुल्म की बेड़ियाँ अब नहीं अब नहीं
–रूबी झा कोमल

हिंदी गजल की यह स्त्रियाँ किसी चमत्कार की मुंतजर नहीं हैं। उन्हें पता है अपने हालात खुद बदलने हैं। इसीलिए वह किसी का आसरा नहीं देखतीं। उसने घुट कर जीना छोड़ दिया है। सबसे बड़ी बात उनके पास गजल का लहजा है। आम फहम शब्द हैं। शबो–रोज की सामाजिक समस्या को देखने का नजरिया है। वह अपनी एकाकीपन और उपेक्षा से नहीं घबराती, बल्कि ठोस धरती पर आकर अपने फैसले सुनाती है। वह दया नहीं चाहती अधिकार चाहती है। उनके पास तर्क है। आगे बढ़ाने की चाहत है। वह अब उपभोग की वस्तु नहीं बनती, और न अपनी स्त्री की छवि को धूमिल करती है। कुछ और शेर मुलाहिजा हो –

अभी तो चाक पर जारी है रक्स मिट्टी का
अभी कुम्हार की नीयत बदल भी सकती है
–अलीना इतरत

बेटी मैं तेरी माँ हूँ जरा बोल अदब से
अच्छा नहीं है ये तेरा लहजा मेरे आगे
–ममता किरण

जिन्हें जुस्तजू है नई मंजिलों की
वो खतरा के बारे में कब सोचते हैं
–मधु मधुमन

किसी के इश्क में खुद को मिटा दिया वरना
मैं अपने दौर की सुल्तान हो गई होती
–रश्मि सानन

सफर में आए हुए मरहलों से क्या डरना
अब अपने पाँव के इन आबलों से क्या डरना
–सिया सचदेव

तुम फकत इस जिस्म तक ही रह गए ना
मैं तुम्हें खुद से मिलाना चाहती थी
–संजू शाब्दिता

कच्चा मकाँ तो ऊँची इमारत में ढल गया
आँगन में वो जो रहती थी चिड़िया कहाँ गई
–ममता किरण

सबका अच्छा होकर देखा
हमने खुद को खोकर देखा
–नेहा नेह

असल में हमारा समाज कभी यह नहीं चाहता कि स्त्रियों की बनी बेड़ियाँ तोड़ी जाएँ। वह उसे नैतिकता के लिबास में एक वस्तु बनाकर रखना चाहता है। हिंदी की गजल शायरा पूजा भाटिया इस इरादे को भाँप जाती हैं –

इक इसी बात का है डर उसको
मुझ में इंकार की भी हिम्मत थी

हमें यह समझना होगा कि एक औरत कभी पुरुष की विरोधी नहीं रही है। वह पुरुष मानसिकता का विरोध करती है। उसे पता है कि हमें भारतीय परिवार व्यवस्था को बचाना है। वह दांपत्य को भी तरजीह देती है। उसे बच्चों से भी प्यार है। घर–गृहस्थी से भी लगाव है। बस वह अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व चाहती है। हिंदी की महिला गजलकारों की गजलों में इसी चेतना के दर्शन होते हैं। वास्तव में स्त्री विमर्श के बात सबसे पहले गजल में उठाई जाती है। यह शायरी बताती है कि प्रेम और समर्पण के साथ भी स्त्री से जुड़े प्रश्न भी किये जाने चाहिए। चंद

और शेर देखें –

हम हमेशा आँसुओं को ही पिए
होंठ की ये तिशनगी अच्छी नहीं
–आरती आलोक वर्मा

अपनी तबियत कह दे बस
मेरी तबियत रहने दे
–डॉ. भावना

हमारे लिए पेट का मामला है
तुम्हारे लिए अब मुकद्दर की बातें
–इंदु श्रीवास्तव

वो कसौटी पर भला कैसे उतरता इल्म की
उसके अंदर जो छुपा था वो बहुत मगरूर था
–राजकुमारी शर्मा राज

हिंदी गजल की यह सारी शायरत कहीं सवाल करती हैं, तो कहीं चेतावनी देती हैं। वह किसी प्रलोभनों में अब नहीं आतीं। उनकी शायरी में हर हासिये की औरतों की आवाज बन जाती है। उसने अब समाज की साजिशों को समझ लिया है। वह खुश होने के लिए किसी की खुशामद नहीं करती हैं। उसे पता है सुखी जीवन कैसे बिताई जाती हैं। अपनी अस्मिता की रक्षा कैसे की जाती है। सम्मानपूर्वक कैसे जिया जाता है। उनका सीधा–सा प्रश्न है –

सितम सहूँगी तेरे इश्क में मगर कब तक
रहा करोगे भला मुझसे बेखबर कब तक
–रूबी भूषण

आराधना प्रसाद समाज के लिए एक समझदारी की बात करती हैं–

फिल्हाल ये काफी है कि तुम खुद को बदल लो
दुनिया को बदलने में अभी वक्त लगेगा

यह गजल शायरा हालात से मुकाबला करती है हार नहीं मानतीं –

मुश्किलें हैं बहुत किंतु हारी नहीं
देश की बेटियाँ अब बिचारी नहीं
–हेमा सिंह

वह स्त्री शक्ति का यों विश्लेषण करती हैं –

ये चाहे तो रुख मोड़ ले तूफाने अलम का
हरगिज भी न समझो कि लाचार है औरत
–नसीमा निशा

उनकी गजलें सच बोलती हैं, सच कहती हैं। सच लिखती हैं –

आँख से देख अगर मंजर लिखूँगी
किस तरह रहजन को मैं रहबर लिखूँगी

—माधुरी स्वर्णकार

घर से दफ्तर के बीच पिसती हुई यह स्त्री दोहरी जिन्दगी गुजार रही है—

बच्चों को देखती है दफ्तर को देखती है
दफ्तर से लौट कर फिर घर को देखती है

—गरिमा सक्सेना

उनमें न कोई पलायन है और न कोई दुर्बलता या हीनता —

हम कदम भी क्यों बढ़ाते राजधानी के लिए
उम्र जब सारी गंवाई है किसानी के लिए

—अनामिका सिंह

हिंदी की इस महिला गजलकार की भाषा गजल की खालिस जबान है। यह न पूर्वाग्रह से ग्रसित है, और न आरोपित है। जो शब्द हमारे रोजमर्रा से घुले—मिले हैं। उनकी गजलें इसी भाषा से बनती हैं। चंद और शेर देखें —

उनके लबों पर मेरी तरह प्यास— प्यास है
एक जिन्दगी मिली भी तो खाली उदास है

—चाँदनी पाण्डेय

तो घबराना है क्यों आलोचना से
इसी ने आपको चर्चित किया है

—अंजु केशव

जिनके हिस्से में प्यास आई थी
चूमते जाम तिश्नगी लेकर

—अनिता सिंह

बड़े होने की खातिर दिल बड़ा होना जरूरी है
कि कद बढ़ने से कोई शख्स कद्दावर नहीं होता

—इंदु श्रीवास्तव

इस प्रकार हम देखते हैं कि समकालीन हिंदी की महिला गजलकारों का मूल स्वर सत्ता और पितृसत्ता का इंकार है। अब वह पढ़ी—लिखी औरत है। दुनिया की हर चीजों से उसकी भागीदारी और वाकफियत है। वह अब घर की औरत बनकर नहीं रह सकती, और न ही गूंगी बनकर जी सकती है। वह अब सब कुछ नहीं मान लेती, बल्कि अपना पक्ष, तर्क और सत्य से वाकिफ कराती है।

पूरी हिंदी गजल में यह शायद तेजी से आगे बढ़ रही हैं। वह किताबों में भी हैं, और मंचों पर भी। विश्वविद्यालय में उनकी गजलों पर शोध हो रहे हैं सेमिनार आयोजित हो रही है। उनकी गजलों में गहनता से उठाए हुए प्रश्न हैं। वह अपनी सुंदरता से ज्यादा बुद्धि, विवेक को तरजीह देती है। गजल के शिल्प और कथ्य को समझती हैं। सबसे बड़ी बात उनकी गजलों में कोरी कल्पना नहीं है। महसूस की हुई सच्चाई और देखा—भोगा हुआ यथार्थ है।

■

दलित विमर्श

डॉ. आशा कुमारी *

19वीं सदी का दौर स्त्री जीवन के सुधार का दौड़ माना जा सकता है। सामाजिक, आर्थिक दृष्टि से स्त्री को सबल और सुदृढ़ करने की ओर चिंतकों और विचारकों का प्रयास आरम्भ हुआ। जिसका परिणाम भी सामने आया है। साहित्य से लेकर समाज सुधारक सबने स्त्री की वेदना और पीड़ा को समझा है। भारत के संदर्भ में यदि कहे तो 'सीमॉन द बोआर' की रचनाओं से अधिक भारतीय चेतना में स्त्री के प्रति नवीन दृष्टिकोण के जागृत होने में महादेवी का अधिक योगदान है। धीरे–धीरे समाज–सुधारकों, साहित्यकारों, चिंतकों के प्रभाव से कानूनी सामाजिक, आर्थिक संबल, भारतीय नारी को प्राप्त हुआ। बाबा साहेब भीम राव अम्बेदकर के द्वारा निर्मित 'हिन्दू कोड बिल' इसका सशक्त प्रमाण है। अम्बेदकर की यह मान्यता थी कि स्त्री के उन्नति के बिना समाज की उन्नति नहीं देखी जा सकती। दलित काव्य पर अम्बेदकर का प्रभाव है, इसीलिए दलित साहित्य रचना में उनके विचार स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ते है।

दलित काव्य के अंतर्गत स्त्री स्वर सर्वप्रथम 'अनुसूया' 'अनु' की रचना में देखा जा सकता है। उनकी कविता 'तू बन जा दीपक' महत्वपूर्ण कविता है–

''तू बन जा दीपक अपना आप।/संकल्प प्रबल जीवन की धारा,/निर्भरता संताप।/भर ले इतना तेल दीप में/घटे न लौ का ताप।''

दलित स्त्रियाँ अपने संघर्ष के बल पर अपना पहचान बनाने के लिए आतुर दिखती है। क्योंकि पढ़ने–लिखने की स्वतंत्रता सवर्ण स्त्रियों में भी अभिजात वर्ग में थी, दलित स्त्रियों को यह सुविधा स्वतंत्रता के बाद भी प्राप्त न हुआ और अभी भी सम्पूर्ण भारत प्रदेश में यह आज भी न के बराबर ही संभव है। शिक्षित दलित घर की स्त्रियाँ पति, बच्चे और चूल्हा–चौका की चारदीवारी में ही सिमटी रहती है। हिन्दी कवि और आलोचक ओम प्रकाश वाल्मीकि ने इस अनदेखी को पूरी शिद्दत से इसकी तस्वीर खींची है– ''एक दलित स्त्री तमाम विपरीत परिस्थितियों में अपने परिवार का उत्तरदायित्व जिस ऊर्जा और मानवीय सामाजिक सरोकारों

* संपर्क – सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, मगध महिला कॉलेज, पटना विश्वविद्यालय, पटना, ईमेल– aashakumari2500@gmail.com

के साथ वहन करती है, उसे अनदेखा करना स्त्री के साथ अन्यायपूर्ण कृत्य ही कहा जाएगा।''[1]

दलित चिंतक के प्रतिनिधी साहित्कार ओम प्रकाश वाल्मीकी की कविता 'झाडूवाली' वाली' एक महत्वपूर्ण रचना है। इस कविता में उन्होंने स्त्री जीवन की उन्नति के संदर्भ में रूप–रेखा प्रस्तुत की है–

''जब तक रामेसरी के हाथ में/खडांग–खाँग घिसरती लौह गाड़ी है/मेरे देश का लोकतंत्र/एक गाली है!''[2]

इन पंक्तियों में दलित स्त्री की दशा का चित्रण है, और उनकी स्थिति से समाज को रू-ब-रू कराने की एक तड़प है। सच में वह लोकतंत्र किस काम का जिसमें दलित नारियों को सम्मान न हो। दलित समाज श्रमिक समाज रहा है, और वहाँ सी पुरुष एक–दूसरे से कंधा मिलाकर काम करते है। उनकी स्त्रियाँ घर में नहीं बैठती, बल्कि पुरुष के बराबर ही श्रम करती है। इस संदर्भ में यौराज सिंह 'बेचैन' की कविता भी देखी जा सकती है। जहाँ बेटी के जन्म लेने पर शोक का माहौल रहता है। 'औरत' कविता के इन पंक्तियों को देखा जा सकता है–

''पैदा हुई थी जिस दिन घर भोक में डूबा था
बेटे की तरह उसका उत्सव नहीं मना था।''[3]

कवि का मानना है कि दलित स्त्रियों की स्थिति भले दुःखद रही है, किंतु इसे बदलने के लिए उन्हें स्वयं संघर्ष करना होगा।

इन पंक्तियों को भी देखा जा सकता है– ''अब वक्त है वो अपने आयाम खुद बनाए तालीम हो या सर्विस अपने हकूक पाये मिल–जुल विषमता की दीवार गिरानी है।'' दलित काव्य के अंतर्गत स्त्री के मातृत्व का रूप भी मुखरित हुआ है – ''इसी लालटेन की रोशनी में बैठकर माँ फटे–उधड़े कपड़ों को हाथ से सिलती घर में एक–एक पैसे की तंगी और तों बिना छुकी–भुनी सब्जी भी घर में नहीं बनने के बाबजूद माँ लालटेन के लिये तेल की व्यवस्था जरूर करती थी कभी–कभी भूखी भी रह जाती थी ऐसा कई बार हुआ था पर तेल के अभाव में घर में लालटेन नहीं जली हो ऐसा कभी नहीं हुआ था।''[4]

सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि अवरोधों के बावजूद दलित–स्त्री अपनी पहचान स्वयं निर्मित करना चाहती है। इस संदर्भ में सुशीला टाँक भौरे की एक महत्वपूर्ण कविता है–

चक्की में पिसते अन्न की तरह नहीं/'स्वयं को पहचानना है,/उगते अंकुर की तरह जीना है।'

पितृसतात्मक समाज में स्त्रियों की स्थिति दयनीय रही है। पुरुष की असमाजिक एवं विकृत मानसिकता को पूरा लोक देखता है। उसका जीवन बन्दूक की नोक के समान होती है। इसका विशद् वर्णन ओमलता 'वाक्य' की ने अपनी एक कविता– 'बेटियाँ' में किया। जिसमें उन्होंने दलित स्त्री की मनोदशाओं को रूपायित किया है–

''बेटियाँ कुम्हार की गगरियों के समान होती है। जिन्हें कुम्हार रूपी पिता उँगलियों व चाक से जन्मता है, फिर काट देता है। जड़ से अलग अलाव की आँच में पकाकर सहनशील बनाता है फिर सौंप देता है अन्य को और वे गगरियाँ जीवन पर्यन्त बुझाती रहती हैं सबकी प्यास।'' स्त्री शोषण के कारण ही आज समाज की नारियाँ पुरुषों को भी उनकी मानसिकता बताने में झिझक नहीं करती। वह कहती है कि ''पुरुष रे पुरुष कान खोल सुन ले मैंने चाहा था तुम ऊँचा उठो क्षितिज के पार एक और दुनिया की खोज करो किन्तु तू काहे को मानेगा रे।''[5]

उक्त पंक्तियों में रूपक के माध्यम से स्त्री के संपूर्ण जीवन को उसकी वेदना उसकी सामाजिक स्थिति को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। दलित कवियित्रियों के काव्य में पुरुष वर्चस्व वादी मनोवृत का भी विरोध हुआ है। जमींदारों, पूँजीपतियों, उच्च वर्गों–वर्णों के लिए दलित समाज की स्त्री महज खिलौना ही होती है। डॉ० एन. सिंह ने इस क्रूर यथार्थ को समाज से अवगत कराया– 'महाजन की आँखों में खटके, मेरा जोवन गोरा रोज भेड़िया बनके ताके, जमींदार का छोरा।'[6]

अब तक इतिहास के पन्नों पर देश की आधी आबादी स्त्री लगभग न के बराबर ही दिखाई दी है। सुमन राजे यह मानते है कि– ''अब औरत किसी आदमी के नाम से जुड़ी जमीन नहीं, उसकी जिंदगी सिर्फ उसकी है– यही उसके जीवन का मूलमंत्र है हथियार के बल पर और कब तक होगी सभ्यता की खरीद–बिक्री। असमानता की जड़ता उधेड़कर नारी खोज रही हैं समता का सूत, अब वह समझ गयी है कि उसका जीवन सिर्फ उसी का है, उसी के लिए है।''[7]

कहना असंगत न होगा कि हमारे समाज कुदृष्टि भी बेमिसाल है – स्त्री जीवन और दलित स्त्री के जीवन में बहुत कुछ अंतर मालूम पड़ता है। इस सच्चाई से नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। तभी दलित स्त्री सिरमौर चढ़ जाती है – 'मलमूत्र से भरा बोझ' जैसे घृणित कार्य करने को मजबूर की जाती रही है लेकिन समय और परिस्थितियाँ व्यक्ति को मजबूत बनाती है। अब वह इसका विरोध करना सीख गई है। कौशल पँवार की 'भंगी महिला' शीर्षक कविता इसका सशक्त उदाहरण है– वह आज फेंक देना चाहती है/मलमूत्र से भरा बोझ/सभ्य समाज के ऊपर/छीन लेना चाहती है/अपने हिस्से का खुला आसमान/अपनी चाहतें, और अपने सपने/वह ऐलान कर देती है/अरे! व्यवस्था के ठेकेदारों/अब संभल जाओं/देखो–देखो! आ रही हैं/भंगी महिलाएँ/हाथ में झाडू की जगह/कलम उठाये, झंडे उठाये, और हथियार उठाए/आ रही है/भंगी महिलाएँ।' कौशल पँवार (भंगी महिला)

हिन्दी दलित साहित्य के अंतर्गत स्त्री–अस्मिता एक अहम् मुद्दा है। काव्य भी इससे अनूठा नहीं। दलित स्त्रियों का शोषण कई स्तरों पर होता रहा है मांसिक, शारीरिक, पारिवारिक, भावात्मक सभी स्तरों पर दलित स्त्रियाँ शोषित होती रही है, और यही कारण है कि 'उनका जीवन संघर्ष अधिक व्यापक हो

उठता है। जाति प्रथा के साथ–साथ स्त्री शरीर का होना किसी अभिशाप से कम नहीं है। घर की चार दिवारी से लेकर चौराहे तक स्त्री की अजीब–सी छवि निर्मित कर दी गई है। ऐसी स्थिति में दलित स्त्री के मनोभावों को सही संदर्भ में समझने के लिए स्त्री के अनुभव का और स्त्री के द्वारा दर्ज भाव ही प्रमुख माना जाएगा। स्त्री के संबंध में पुरुष का नजरिया क्या हो सकता है। उसकी पहचान दलित स्त्रियों को भी खूब है–

'हर स्त्री मर्द के लिए एक योनि
एक जोड़ी स्तन लरजतें होठ है।
सब हमारे व्यक्तिगत है।
हमारा शरीर हमारा है।
हमारी भावनाएँ, हमारी आजाद इच्छाएं
हम कहाँ हैं इस दुनिया में
भारत के नक्शे पर भिनभिनाती मक्खियों सी?'

इस तरह की कविताएँ स्पष्ट तौर पर पितृसत्ता के वर्चस्व को चुनौती देती है।

'डॉ० निरंजन कुमार' के अनुसार ''दलित कवयित्रियों के काव्य में वर्णाश्रम और पुरुष वर्चस्ववादी व्यवस्था के चुंगल में जकड़ी स्त्री की पीड़ा का गहरा एहसास मिलता है, साथ ही उस व्यवस्था से संघर्ष का साहस भी। इनकी कविताओं में सदियों के संताप में जकड़ी स्त्री युग की वर्जनाओं के बावजूद उन सभी प्रचलित प्रतिमानों को तोड़ना चाहती है जो एक स्त्री के लिए मान्य और शिरोधार्य माने जाते हैं। इन कविताओं की सबसे बड़ी विशेशता यह है कि ये दलित स्त्री को शिक्षित और मजबूत कर उनकी प्रचारित और प्रचलित छवि को तोड़ती है।''[8]

इन पंक्तियों में दलित स्त्री की वह पीड़ा जिसका हर जगह शोषण होता है। इसको बहुत ही बोल्ड तरीके से अभिव्यक्त किया गया है। दूसरी ओर पुरुष के प्रति नकारात्मक भाव और विद्रोह की चिंगारी भी दलित कवयित्रियों की कविता में दिखती है।

सुशीला टॉक भौरे की 'विद्रोहिणी' कविता के पंक्तियों को भी देखा जा सकता है–

''माँ बाप ने पैदा किया था
गूँगा!
परिवेश ने लगड़ा बना दिया
चलती रही।
निश्चित परिपाटी पर
वैशाखियों के सहारे
कितने पड़ाव आये।

आज जीवन के चढ़ाव पर
बैसाखियों चरमराती हैं
अधिक बोझ से
अकुलाकर
विस्फारित मन हुंकारता है
बैसाखियों को तोड़ दूँ।'[9]

सुशीला जी की कविताओं में आक्रोश सभी जगह दिखता है। स्त्री जीवन के लिए सबसे बड़ा अभिशाप बलात्कार जैसा कुकृत्य है। बहुत कम स्त्रियाँ इससे उबर पाती है। इन स्थितियों से लड़ पाती है। खुद को संभाल पाती है। समाज की भी ऐसी मनोदशा रही है। जहाँ उन्हें संवेदना से कम संशय की दृष्टि से अधिक देखा जाता है। सवाल उठता है कि इस मीडिया के युग में भी झुग्गी झोपड़ियाँ और ग्रामीण इलाकों में कार्य–स्थल पर यौन उत्पीड़ण मीडिया के नजर में भी नहीं आता है। दामिनी कांड पूरे देश को हिलाकर रख दिया था।

'रजनी तिलक' ने इस संदर्भ में लिखा है कि – ''दामिनी के बलात्कार पर थर्रा गयी पूरी दिल्ली काँप उठा पूरा भारत शर्मसार हुई पूरी मानवता अन्याय का प्रतिरोध करने निकल पड़ा युवकों का हुजूम भयभीत लड़कियाँ निर्भय हो उतर आई सड़कों पर खैरलांजी भंवरी और दामिनी हर दलित के बेटी के बलात्कारी को बहुत मंहगी पड़ेगी अब ये मस्ती अब वह दिन दूर नहीं, तब तुम सड़कों पर मारे जाओग जनता ही तुम्हें सजा देगी मीडिया सिविल सोसाइटी क्या खड़े रहो हमारे साथ भी? मथुरा, भवरी दामिनी के बलात्कारियों को सजा दिलवाओगे न?[10]

उक्त पंक्तियों में भी मीडिया के पक्षपातपूर्ण भाव पर तंज कसे गए है। हिन्दी दलित कवयित्रियाँ केवल दलित स्त्री की चिंता की बात नहीं करती बल्कि वह बताती है– औरत औरत होती है। उसका न कोई धर्म होता है और न ही उसकी कोई जात होती। इसके साथ ही घट रही घटनाएँ कुठाराघात करती है।

इस प्रकार, हम देखते है कि हिन्दी दलित काव्य में दलित स्त्रियों की वेदना उनका शोषण, उनके संघर्ष, उनके प्रतिकार को वाणी देने का प्रयास किया गया है। समय के साथ–साथ स्त्री अस्मिता के संघर्ष का स्वर स्वरूप जैसे–जैसे मुखर होता जा रहा है। दलित स्त्री का संघर्ष भी सशक्त होगा।

हरपाल सिंह 'अरुश' हिन्दी दलित काव्य के स्त्री स्वर का उल्लेख करते हुए लिखते है कि– ''दलित काव्य में कवयित्रियों द्वारा लिखी गई कविताएँ नारीवाद से भी मुक्त हैं। वे जहाँ दलित समाज से आने वाले कवियित्रियाँ है। वहीं सामान्य सामाजिक समूहों में से निकलकर आनेवाली कवियित्रियाँ भी हैं, परन्तु प्रचलित नारीवाद से भिन्न नारी के शोषण और दलितत्व को लेकर साहित्य में वे संलग्न हैं। उनके यहाँ अपने दलित होने का एहसास है, उनके संदर्भ गंभीर हैं, उनकी भाशा मुखर है। वे भी समता की पक्षधार हैं। दलित–पिछड़े समाजों में नारी परिश्रमशील है। श्रम भागीदार है। अतः इन समाजों से आने वाले महिलाओं के

अनुभव भिन्न प्रकार के हैं।''[11]

इस प्रकार, दलित स्त्री का विमर्श सामान्य स्त्री के विमर्श से कई मायनों में पृथक है। दलित कविताएँ अपने संघर्ष श्रमशीलता के कारण अपनी अभिव्यक्त को विशेष शक्ति प्रदान करती है। उनकी अभिव्यक्ति अधिक सुदृढ़ है।

दलित स्त्रियाँ अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक दिखती है। इनकी रचनाएँ सामाजिक, राजनैतिक प्रपंचों पर कुठाराघात करती हैं और सांस्कृतिक क्रान्ति का आह्वान कर समाज में सभी स्तरों पर समानता की वकालत करती हैं।

संदर्भ–

1. ओमप्रकाश वाल्मीकि, मुख्यधारा और दलित साहित्य सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, 2009, पृ०–11
2. ओमप्रकाश वालमीकि, सदियों का संताप, गौतम बुक सेंटर, शाहदरा, नई दिल्ली, सं०–2012, पृ०–33
3. औरत (ज्यौराज सिंह बेचैन)
4. दलित साहित्य वार्षिकी (पत्रिका) गूंगा नही था मैं, संपादक जय प्रकाश कर्दम, दिल्ली, 2005
5. पीडा जो चीख उठी, भारतीय दलित साहित्य मंच, गोंडा, दिल्ली,1988, पृ०–43.
6. डॉ एन० सिंह (संपादक), दर्द का दस्तावेज, आनंद साहित्य सदन अलीगढ़ प्रथम संस्करण,1992, पृ०–143
7. सुमन राजे, हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ०–309
8. डॉ० निरंजन कुमार, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पृ०–106
9. डॉ० सुशीला टाँक भौरे, स्वाति बूंद और खारे मोती, शरद प्रकाशन, नागपुर, 1993, पृ०–9
10. रजनी तिलक, पदचाप सेंटर अल्टरनेटिव दलित मीडिया, शालीमार बाग, दिल्ली, 2000, पृ०–अ
11. हरपाल सिंह 'अरुश' दलित साहित्य के आधार तत्व भारतीय पुस्तक परिचय, नई दिल्ली, सं०–2011, पृ०–109

■

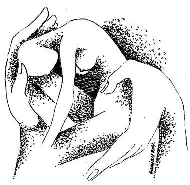

शब्द चिंतन

धर दीनी चदरिया

प्रो. इरतिजा करीम *

हिंदी साहित्य में भी जीवनी लिखने की परंपरा ज्यादा पुरानी नहीं है। लगभग हिंदी साहित्य में जीवनी लिखने की शुरुआत भी उर्दू के साथ–साथ ही हुई है। उर्दू में इस विधा का जनक ख्वाजा अल्ताफ हुसैन हाली को माना जाता है। इनके द्वारा लिखी गई 'हयात–ए–सादी' प्रथम जीवनी 1883 में प्रकाशित हुई। जबकि हिंदी में इस विधा का सूत्रपात गोपाल शर्मा शास्त्री के द्वारा रचित साहित्यिक जीवनी 'दयानंद दिग्विजय' के माध्यम से 1881 में हुआ। हालांकि इससे पूर्व नाभा दास द्वारा रचित जीवनी 'भक्त माल' 1585 ई. में प्रकाशित हो चुकी थी मगर यह पूर्ण रूप से साहित्यिक जीवनी नहीं है इसमें उस समय के भक्तों के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। आलोचक और विद्वान गोपाल शर्मा शास्त्री के द्वारा लिखी गई किताब को ही हिंदी साहित्य की पहली जीवनी मानते हैं।

हिंदी साहित्य में वैसे तो अनगिनत जीवनियां लिखी गई हैं लेकिन कुछ प्रमुख जीवनियां और उनके लेखक इस प्रकार हैं: विष्णु प्रभाकर के द्वारा लिखी गई जीवनी 'आवारा मसीहा' (शरतचंद्र चट्टोपाध्याय के जीवन पर आधारित), अमृत राय के द्वारा लिखी गई जीवनी 'कलम का सिपाही' (प्रेमचंद के जीवन पर आधारित), डॉ. रामविलास शर्मा द्वारा लिखी गई जीवनी 'निराला की साहित्य साधनाः तीन भाग' (सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की जीवनी पर आधारित), शिव रानी देवी द्वारा रचित जीवनी 'प्रेमचंद घर में', मदन गोपाल द्वारा लिखित जीवनी 'कलम का मजदूर', तेज बहादुर चौधरी द्वारा लिखी गई जीवनी 'मेरे बड़े भाई शमशेर जी'। इनके अतिरिक्त भी बहुत सारी जीवनियां हिंदी साहित्य में साहित्यकारों और महान व्यक्तित्वों पर लिखी गई हैं। इसी क्रम में हाल फिलहाल मेरी नजरों के सामने से अबू बकर रिजवी द्वारा लिखी गई जीवनी 'धर दीनी चदरिया' गुजरी। यह जीवनी प्रोफेसर गिरीश कुमार चौधरी की एक संघर्ष गाथा है। अब तक लिखी गई जीवनियों की अगर बात की जाए और उनके शीर्षकों पर ध्यान दिया जाए तो सबसे ज्यादा मुझे या तो 'आवारा मसीहा' शीर्षक ने चौंकाया और अपनी तरफ आकर्षित किया है या फिर उपर्युक्त जीवनी 'धर दीनी चदरिया' ने। जिस

* **संपर्क** – पूर्व डीन कला संकाय एवं विभाग अध्यक्ष, उर्दू विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, मो.– 9910074933

प्रकार 'आवारा मसीहा' ये दो शब्द या यूं कहिए कि शीर्षक अपने अंदर गहरा भाव, अर्थ एवं व्यापकता लिए हुए हैं ठीक इसी प्रकार अबू बकर रिजवी द्वारा रचित पुस्तक 'धर दीनी चदरिया' भी है। पुस्तक का यह शीर्षक या नाम कबीर दास की निम्नलिखित रचना से उद्धृत

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे कै ताना काहे कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।1।
इडा पिंगला ताना भरनी, सुख मन तार से बीनी चदरिया।2।
आठ कँवल दल चरखा डोलै, पाँच तत्त्व गुन तीनी चदरिया।3।
साँ को सियत मास दस लागे, ठोंक ठोंक के बीनी चदरिया।4।
सो चादर सुर नर मुनि ओढी, ओढि कै मैली कीनी चदरिया।5।
दास कबीर जतन करि ओढी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।6।

इस बात का इजहार लेखक ने समर्पण से पहले वाले पृष्ठ पर कर भी दिया है। हालांकि वहां पूरी कविता दर्ज नहीं है मगर कविता की पहली पंक्ति और अंतिम चार पंक्तियां लिखी गई हैं। किताब के लेखक डॉ अबू बकर रिजवी की बुद्धिमत्ता, ज्ञान की सूझबूझ और दूरदर्शिता की दाद देनी पड़ेगी कि उन्होंने इस किताब का नाम कबीर की रचना से लिया है। पुस्तक का यह नाम गिरीश कुमार की शख्सियत से बिल्कुल मेल खाता है और खरा उतरता है।

लेखक वैसे तो बुनियादी तौर पर उर्दू के साहित्यकार हैं मगर कभी–कभी वह हिंदी में भी अपनी लेखनी चलाते हैं। उपर्युक्त किताब जो प्रोफेसर गिरीश कुमार चौधरी की जीवनी पर आधारित है, इनकी हिंदी भाषा में प्रथम पुस्तक है। लेखक ने पुस्तक अपने पिता श्री डॉ अबू जर मोहम्मद जहीर और प्रोफेसर गिरीश कुमार चौधरी के पिता स्वर्गीय श्री राम सिंहासन चौधरी जी को समर्पित की है।

देखा जाए तो जीवनी लिखने का कार्य यथार्थ का चित्रण है। ऐसा चित्रण जिसमें सच्चाई हो, व्यक्ति के प्रति अवलोकन हो और जो काल्पनिक और कथा वस्तु से दूर हो। जीवनी लिखते समय सबसे बड़ी बात यह है की लेखक को शोध ा कार्य से अधिक काम लेना पड़ता है और ऐसे समय में कि जब व्यक्ति जीवित हो। क्योंकि कोई भी बात अनुमान के आधार पर नहीं लिखी जा सकती नहीं तो स्वयं जीवित व्यक्ति ही उस पर एतराज कर देगा। अबू बकर रिजवी ने शोध कार्यों से बराबर काम लिया है एवं पारदर्शिता अपनाते हुए प्रोफेसर गिरीश कुमार चौधरी के व्यक्तित्व और कारनामों की गाथा को इस प्रकार उजागर किया है की पाठक पढ़ते समय गिरीश कुमार की शख्सियत में खोता चला जाता है। देखा जाए तो लेखक ने बहुत ही प्रभावपूर्ण ढंग से इस किताब को लिखने में मेहनत की है और इस मेहनत में वे कामयाब भी नजर आते हैं।

यह बात भी सच है कि अगर भाषा में प्रवाह नहीं है तो वह भाषा पाठकों के मन मस्तिष्क पर अपना प्रभाव नहीं छोड़ती है लेकिन पुस्तक 'धर दीनी चदरिया' को पढ़ने के बाद यह अंदाजा भली भांति हो जाता है कि अबू बकर ने भाषा को

प्रभावपूर्ण बनाने, प्रवाह और आकर्षण पैदा करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जैसा कि लेखक बुनियादी तौर पर उर्दू साहित्य में हस्तक्षेप रखते हैं मगर उन्होंने अपनी उर्दू कौशलता एवं ज्ञान का उचित प्रयोग करते हुए उपरोक्त पुस्तक की भाषा शैली को हिंदी उर्दू मिश्रित करके अत्यधिक प्रभावशाली, सारगर्भित, अर्थपूर्ण एवं अलंकृत कर दिया है। हालांकि कहीं–कहीं पर उनका क्षेत्रीय बोली का प्रभाव भी देखने को मिलता है जो व्याकरण की दृष्टि से उचित नहीं है मगर ऐसी कलात्मक व व्याकरण की त्रुटि कम ही दिखाई देती है। वास्तव में देखा जाए तो उर्दू मिश्रित शब्दों से भाषा शैली में चार चांद लग गए हैं जिससे न केवल लेखक की लिखने की योग्यता एवं दक्षता का पता चलता है बल्कि साथ–ही–साथ प्रोफेसर गिरीश कुमार का व्यक्तित्व भी अत्यधिक चमक गया है।

आमतौर पर और तकनीकी दृष्टि से अगर देखा जाए तो जीवनी लिखने के लिए लेखक पुस्तक को अध्याय में विभाजित करता है ताकि पुस्तक अत्यधिक अर्थपूर्ण, प्रभावशाली एवं गरिमा पूर्ण हो जाए। मगर न जाने क्यों अबू बकर रिजवी ने यह तकनीक इस्तेमाल नहीं की। उन्होंने प्रोफेसर गिरीश कुमार की जीवनी एक ही प्रवाह और वेग के साथ निरंतर बिना किसी अध्याय के लिख डाली है। बस आप पुस्तक को पढ़ना शुरू कीजिए और पढ़ने चले जाइए बगैर किसी अध्याय और रोक–टोक के। हो सकता है लेखक के दिमाग में कुछ और तकनीक रही हो कि क्यों न मैं रिवायत और रिवाज से हटकर अपनी शैली को जन्म दूं। इसमें कोई दो राय नहीं कि जिस प्रकार अबू बकर रिजवी ने प्रोफेसर गिरीश कुमार की जीवनी को बयां करना शुरू किया है और आखिर तक करते चले गए उसमें बे इंतेहा प्रवाह शामिल है जो पाठक के अंदर रुचि एवं जिज्ञासा पैदा करता है और पाठक नीरसता का एहसास नहीं करता।

जीवित व्यक्ति पर अगर जीवनी लिखी जाए तो सबसे अच्छी जीवनी तभी लिखी जा सकती है कि जब लेखक के स्वयं उस व्यक्ति से गहरे, घनिष्ठ एवं अच्छे संबंध हों। इस मामले में भी अबू बकर सौभाग्यशाली हैं कि वे प्रोफेसर गिरीश को उस जमाने से जानते हैं जिस जमाने में लेखक पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय के छात्र हुआ करते थे। वहीं पर प्रोफेसर गिरीश को प्रथम बार देखने का इत्तेफाक हुआ। लेखक ने अपने संबंधों का जिक्र करते हुए गिरीश की जीवनी को सही अर्थों में जीवंत बना दिया है। धीरे–धीरे लेखक एवं गिरीश के संबंध गहरे एवं घनिष्ठ होते चले गए। दूरियां नजदीकियों में बदलती चली गईं। परिणामस्वरूप लेखक गिरीश कुमार की शख्सियत का बचपन से गहरा अवलोकन करता रहा। गिरीश कुमार की शख्सियत लेखक के मन मस्तिष्क और कोशिकाओं में इस प्रकार घर कर गई थी की वे अपनी लेखनी चलाने के लिए मजबूर हो गए। लेखक ने पुस्तक में इस बात की ओर भी इंगित किया है कि जब मैंने गिरीश कुमार पर पुस्तक लिखने का विचार किया और उनके सामने यह सुझाव एवं प्रस्ताव रखा तो वह एकदम तैयार नहीं हुए लेकिन लेखक के बार–बार अनुरोध करने पर

प्रोफेसर गिरीश कुमार तैयार हो गए।

लेखक का कहना है कि मैं नहीं चाहता था कि एक ऐसी महान शख्सियत जिसने जीवन भर सच्चाई, ईमानदारी और आदर्श के रास्ते को नहीं छोड़ा, जो हमेशा अधिकारों, शिक्षा एवं इंसानियत के लिए लड़ता रहा। यह कैसे हो सकता है कि उसके जीवन के इन गोशों एवं पहलुओं को नजरअंदाज कर दिया जाए। हकीकत के दर्पण से देखा जाए तो प्रोफेसर गिरीश कुमार की शख्सियत एक ऐसी शख्सियत है जो अपने आप में एक मिसाल है। एक ऐसी मिसाल जो सदियों में कहीं जाकर बनती है। इस अवसर पर प्रो गिरीश कुमार की शख्सियत के ताल्लुक से इकबाल का अगर यह शेर पेश कर दिया जाए तो अनुचित न होगाः

हजारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पे रोती है
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदा वर पैदा

बगैर अतिशयोक्ति के यह उपर्युक्त शेर प्रो गिरीश कुमार की शख्सियत पर बिल्कुल सटीक बैठता है। अब तक तो सिर्फ वही लोग प्रोफेसर गिरीश कुमार की शख्सियत से परिचित थे जो उनके संपर्क में थे या उनके साथी मगर अबू बकर रिजवी ने यह पुस्तक लिखकर प्रोफेसर गिरीश कुमार की शख्सियत को यूनिवर्सल बना दिया है। ऐसा नहीं है कि उनकी शख्सियत यह पुस्तक लिखने से पूर्व यूनिवर्सल नहीं थी बल्कि यहां परिचय के तौर पर यूनिवर्सल शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। अब इस पुस्तक के माध्यम से पूरा जनसमूह चाहे वे शैक्षणिक हो एवं अन्य विभागों से संबंधित या जनमानस, सभी लोग प्रोफेसर गिरीश की महानता, कार्यों एवं कारनामों से परिचित होंगे। इस पुस्तक को पढ़ने के बाद पाठक इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इंसान को विषम परिस्थितियों में भी साहस नहीं छोड़ना चाहिए। गिरीश कुमार की शख्सियत ऐसे ही संदर्भों और परिस्थितियों से सारगर्भित है। उनके संघर्ष पूर्ण जीवन को पढ़ने के बाद पाठक भाव विभोर हो उठता है एवं गिरीश कुमार की शख्सियत प्रेरणा का स्रोत बन जाती है। अबू बकर रिजवी का सबसे बड़ा कमाल यह भी है कि उन्होंने गिरीश कुमार की शख्सियत में फालतू फूल बूटे लगाने की कोशिश नहीं की है बल्कि यथार्थ को ही चरितार्थ किया है। जीवनी को पढ़ने के बाद एहसास भली–भांति होता है कि प्रोफेसर गिरीश कुमार ने अपने मन में डूब कर जिंदगी का सुराग पाया है। वे जिंदगी जो गांव के बीहड़ माहौल, पिछड़े परिवेश और सुदूर स्थान से शुरू होती है। जहां संसाधनों का अभाव है। दूर–दूर तक शिक्षा एवं तकनीकी संस्थान नहीं हैं। मां–बाप के पास जीवन निर्वाह करने के लिए धन नहीं है। ऐसे माहौल में प्रोफेसर गिरीश कुमार ने हिम्मत नहीं हारी और हमेशा आगे ही आगे बढ़ते रहे। उन्होंने सफलता का शायद मूल मंत्र सीख लिया था और वह मूल मंत्र था 'परिश्रम'। वास्तव में प्रोफेसर गिरीश कुमार ने परिश्रम से कभी मुंह नहीं चुराया। यही कारण था कि विषम परिस्थितियों और संघर्षपूर्ण जीवन में भी वे पराजित नहीं हुए। जैसा कि पुस्तक के लेखक अबू बकर रिजवी ने लिखा है कि उनका

सफर डिप्लोमा से डी लिट तक पहुंचता है। गिरीश कुमार के ताल्लुक से उनका यह वक्तव्य बिल्कुल अर्थपूर्ण एवं सटीक है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस पुस्तक के माध्यम से हम एक ऐसे व्यक्ति से रूबरू होते हैं जिसका सफर व्यक्ति से व्यक्तित्व बनने में टेढ़े–मेढ़े और कंकरीले रास्तों से होकर गुजरा। बारीक दृष्टि से देखा जाए तो शख्स से शख्सियत बनने में पूरी जिंदगी लग जाती है। शख्स से शख्सियत बनना इतना आसान काम नहीं है। इसके लिए इंसान को कुंदन की तरह तपना पड़ता है और यह ताने का कार्य प्रोफेसर गिरीश कुमार ने भली–भांति अंजाम दिया है।

गिरीश कुमार के जीवन संदर्भ में यह पुस्तक प्रथम पुस्तक है। जब भी गिरीश कुमार के ताल्लुक से शोध कार्य किया जाएगा या उनके व्यक्तित्व, चरित्र, गतिविधियों एवं उपलब्धियां को जानने की कोशिश की जाएगी तो इस किताब की सहायता लेनी अवश्य पड़ेगी। यह पुस्तक सिर्फ एक पुस्तक ही नहीं है अपितु एक ऐसे व्यक्ति की संघर्ष गाथा है जो इतिहास का अटूट हिस्सा बन चुकी है। इस उपरोक्त पुस्तक के लिए वास्तव में डॉक्टर अबू बकर रिजवी कोटि–कोटि बधाई के पात्र हैं। उनका यह साहसिक कार्य एवं कदम पाठकों के लिए एक ऊर्जा स्रोत की हैसियत रखता है और यह ऊर्जा स्रोत है गिरीश कुमार का व्यक्तित्व एवं चरित्र। पुस्तक की अहमियत इसलिए भी बढ़ जाती है कि लेखक ने प्रोफेसर गिरीश कुमार की तीनों बेटियों दीप्ति चौधरी, जूही चौधरी और निम्मी चौधरी के विचारों को भी शामिल कर दिया है। मैं समझता हूं कि जितना करीब से मां–बाप को औलाद जानती है कोई नहीं जान सकता। इन तीनों बेटियों के विचारों से प्रोफेसर गिरीश कुमार की शख्सियत को और अत्यधिक समझने में मदद मिलती है। इसी के साथ–साथ लेखक ने गिरीश कुमार चौधरी से लिया गया इंटरव्यू भी शामिल किया है। इंटरव्यू हकीकत में एक ऐसी विधा है कि जिसके माध्यम से कुछ वे बातें सामने आ जाती हैं जो सामने वाले की अंतरात्मा की आवाज होती है। इनके अलावा शिक्षाविद एवं विद्वानों के विचार भी प्रोफेसर गिरीश कुमार के हवाले से शामिल हैं जिससे पुस्तक की महत्वता एवं गरिमा में चार चांद लग गए हैं। लेखक ने कुछ तस्वीरें भी शामिल की हैं। कहते हैं तस्वीर बगैर बोले सब कुछ बोलती हैं ऐसा इन तस्वीरों से भी एहसास होता है। ये तस्वीरें कुछ खानदान के लोगों के साथ में हैं, बच्चों के साथ एवं कुछ देश, प्रदेश एवं विदेश की महान हस्तियों के साथ।

■

शब्द चिंतन

असंभव के विरुद्ध 'संपा'

डॉ. प्रशांत रमण रवि*

'बस एक बार उसे बता दो... वह जरूर कुछ करेगी।'

"समुद्र के बीच कहीं सोमालिया के समुद्री डाकुओं के कब्जे में फँसा एक भारतीय मर्चेंट नेवी यह संदेश अपनी पत्नी संपा के लिए भेजता है। शायद उसे अपनी सरकार पर उतना भरोसा नहीं था, जितना अपनी पत्नी पर था। शायद उसे मालूम था कि दुनिया हार मान सकती है, लेकिन सम्पा नहीं।"

यहीं से शुरू होती है 'सम्पा' की कहानी।

हम ऐसे समय में जी रहे हैं जहाँ बड़ी खबरें रोज पैदा होती हैं और रोज मर जाती हैं। लेकिन कुछ कहानियाँ खबर नहीं होतीं, वे मनुष्य के भीतर लंबे समय तक जीवित रहने वाली रोशनी होती हैं। संजीव पालीवाल और मीनाक्षी चौधरी द्वारा लिखित 'सम्पा' ऐसी ही एक स्त्री की कठिन जिजीविषा की दिलचस्प कहानी है।

हरियाणा के एक छोटे से गाँव की अंग्रेजी पढ़ाने वाली एक साधारण महिला। जिसका न सत्ता से कोई रिश्ता, न मंत्रालयों की भाषा का ज्ञान, न कूटनीति की समझ। अचानक एक दिन उसे पता चलता है कि उसका पति रवीन्द्र, जो मर्चेंट नेवी में कार्यरत है, सोमालिया के समुद्री डाकुओं के कब्जे में है। और उस एक सूचना के साथ उसकी पूरी दुनिया बदल जाती है।

इसके बाद जो शुरू होता है, वह किसी फिल्मी पटकथा से भी अधिक अविश्वसनीय है। दिल्ली की गलियाँ, मंत्रालयों के चक्कर, अधिकारियों के बंद दरवाजे, नेताओं के दफ्तर, अंतहीन प्रतीक्षाएँ, अपमान, उपेक्षा, निराशा, आक्रोश लेकिन इन सबके बावजूद जिजीविषा से डूबी हुई एक चौकन्नी संकल्प शक्ति की प्रेरक कहानी है संपा।

अपने पति की वापसी के लिए वह सत्ता और शासन के गलियारों के चप्पे–चप्पे छान लेती है लेकिन हर जगह वही औपचारिक वाक्य– 'आप आवेदन दे दीजिए', 'हम देख रहे हैं', 'कुछ न कुछ होगा।'

* **संपर्क** – प्रशांत रमण रवि सहायक प्रोफेसर गवर्नमेंट कॉलेज चम्बा हिमाचल प्रदेश, ई–मेल- raviraman0076@gmail-com

लेकिन कुछ नहीं होता।

किताब के अनेक प्रसंग पढ़ते हुए भीतर तक बेचैनी भर जाती है। एक तरफ समुद्र के बीच मौत और जीवन के बीच झूलता पति है, दूसरी तरफ व्यवस्था की ठंडी दीवारें। सम्पा बार–बार उम्मीद लेकर निकलती है और बार–बार निराश होकर लौटती है। लेकिन उसकी सबसे बड़ी ताकत यही है कि वह लौटती जरूर है लेकिन कभी हार नहीं मानती।

यह पुस्तक महज संपा के संघर्ष की कहानी नहीं है; यह प्रेम की भी एक अनूठी कहानी है। ऐसे प्रेम की, जो रोमानी वाक्यों में नहीं, बल्कि हजारों किलोमीटर की यात्राओं, अनगिनत आवेदन–पत्रों, भूख, थकान, आँसुओं और लगातार लड़ते रहने की क्षमता में व्यक्त होता है।

इस किताब का सबसे मार्मिक और मानवीय पक्ष यह है कि सम्पा अपने पति को बचाने की लड़ाई को केवल निजी नहीं रहने देती। धीरे–धीरे उसके संघर्ष का दायरा बढ़ता है। वह जहाज पर फँसे दूसरे नाविकों की भी चिंता करती है। बाद के वर्षों में भी वह ऐसे मामलों में सक्रिय रहती है। उसका प्रेम अंततः करुणा में बदल जाता है। वह विश्वकल्याण की बात सोचती है, वह आम आदमी के लिए इंसाफ की सारी संभावनाओं की बात करती है।

पुस्तक का एक और महत्वपूर्ण पक्ष है कि लेखक सम्पा को देवी नहीं बनाते। उसके जीवन की टूटनें, उसके वैवाहिक संघर्ष, उसके संदेह, उसके घाव, उसकी कमजोरियाँ– सब कुछ को बहुत ईमानदारी से दर्ज करते हैं। यही ईमानदारी इस पुस्तक को विश्वसनीय बनाती है। सम्पा इसलिए बड़ी नहीं लगती कि वह कभी टूटी नहीं; वह इसलिए बड़ी लगती है क्योंकि टूटकर भी खड़ी हो गई। यह एक साधारण स्त्री की असाधारण साहस की कहानी है।

कई प्रसंग पढ़ते हुए लगता है कि यह केवल एक स्त्री की लड़ाई नहीं, भारतीय लोकतंत्र की भी परीक्षा थी। एक नागरिक अपनी पूरी शक्ति लगाकर व्यवस्था का दरवाजा खटखटाता है और व्यवस्था उसे सुनने में कितना समय लगाती है – यह प्रश्न पुस्तक बार–बार हमारे सामने रखती है।

लेकिन अंततः यह किताब व्यवस्था की विफलता से अधिक मनुष्य की संभावना पर विश्वास करती है।

इस कहानी में पाकिस्तान के कुछ संवेदनशील लोगों की भूमिका भी आती है। वहाँ से मिली मदद यह याद दिलाती है कि सीमाओं, राष्ट्रों और राजनीति से ऊपर भी एक दुनिया होती है – मानवीय संवेदना की दुनिया। जिसकी वकालत संपा टीवी पर इंटरव्यू देते वक्त बार बार करती है।

किताब समाप्त होने के बाद भी सम्पा मन में बनी रहती है। वह किसी चरित्र की तरह याद नहीं आती, बल्कि जीवन के एक अनुभव की तरह भीतर बस जाती है। वह हमें बताती है कि साहस हमेशा युद्धभूमि में नहीं पैदा होता। कई बार वह एक माँ की गोद में बैठे बच्चे के साथ सरकारी दफ्तरों के चक्कर लगाती

हुई स्त्री के भीतर जन्म लेता है। कई बार वह एक फोन कॉल से शुरू होता है। और कई बार वह सिर्फ इस विश्वास से पैदा होता है कि 'अगर मैं हार गई, तो वह भी हार जाएगा जो मुझ पर भरोसा करके बैठा है।'

आज जब हम प्रेम को अक्सर भावुकता के रूप में देखते हैं, सम्पा हमें प्रेम का एक दूसरा अर्थ सिखाती है – समर्पण, संघर्ष, धैर्य और जिम्मेदारी।

सम्पा को पढ़ने के बाद मुझे बार–बार लगा कि किताब पढ़ने के ठीक पहले जो व्यक्ति मैं था, अब वैसा नहीं रहा। जैसे भीतर कोई महीन–सी हलचल हुई हो। जैसे किसी ने आकर हमारे समय के बारे में, प्रेम के बारे में, मनुष्य की जिद और उसकी संभावनाओं के बारे में कुछ बुनियादी धारणाएँ बदल दी हों।

पुस्तक समाप्त होने के बाद भी मैं कई दिनों तक सम्पा के साथ चलता रहा। कभी दिल्ली की उन सड़कों पर जहाँ वह उम्मीद और निराशा के बीच भटकती है, कभी समुद्र के उस अनंत विस्तार में जहाँ कोई आदमी अपनी पत्नी पर विश्वास किए बैठा है, और कभी उन शांत क्षणों में जहाँ एक साधारण स्त्री अपने भीतर असाधारण साहस को खोज लेती है। यकीन मानिए किसी रचना की सफलता का एक पैमाना यह भी है कि आप उसे पढ़ने के ठीक पहले जो थे, बाद में आप वो नहीं रहते। यह कहानी समाप्त कर मैं चिंतन के एक ऐसे शांत बिंदु पर जा पहुंचा जहां पछाड़ खाते दृश्य हैं, लहूलुहान करते सत्ता के तमाम रंग हैं, बेचौनी है, खीझ है, पीड़ा है और भी न जाने कितना कुछ है। लेकिन इन सबसे ऊपर यह बात कि यह कहानी एक प्रश्न की तरह खड़ी हो जाती है – यदि प्रेम इतना प्रबल हो सकता है, यदि एक साधारण मनुष्य व्यवस्था, सत्ता, निराशा और असंभवताओं के सामने इस तरह खड़ा रह सकता है, तो फिर हम अपनी छोटी–छोटी हारों के सामने इतनी जल्दी क्यों टूट जाते हैं? छोटी छोटी बातों पर हम इतनी जल्दी निराश क्यों हो जाते हैं?६

शायद साहित्य का अंतिम उद्देश्य भी यही है कि वह हमें थोड़ी देर के लिए बेहतर मनुष्य बना दे। जीवन जीने की शक्ति हमारे भीतर भर दे और सम्पा यह काम करती है। और यही इस पुस्तक की सबसे बड़ी उपलब्धि भी है।

प्रेम यदि सचमुच प्रेम है तो वह केवल दो व्यक्तियों के बीच नहीं रहता। वह फैलता है। वह सीमाएँ तोड़ता है। वह राष्ट्रों, भाषाओं, धर्मों और पहचानों से बड़ा हो जाता है। शायद इसी कारण सम्पा के आभार में बार–बार मनुष्यों का उल्लेख आता है। वह किसी चमत्कार का धन्यवाद नहीं करती, वह मनुष्यता का धन्यवाद करती है।

इस पुस्तक को पढ़ते हुए एक और बात लगातार मन में आती रही। सम्पा की कहानी जितनी असाधारण है, उतना ही असाधारण उसका लेखन भी है। दूसरे के दुख को सुन लेना आसान है।

दूसरे के दुख पर लिख देना भी अपेक्षाकृत आसान है। लेकिन दूसरे के जीवन में उतरना, उसकी स्मृतियों में चलना, उसके भय, उसके अपमान, उसकी

उम्मीदों और उसकी चुप्पियों को अपने भीतर जगह देना – यह आसान नहीं होता।

इसके लिए केवल पत्रकारिता पर्याप्त नहीं होती।

इसके लिए प्रेम चाहिए।इसके लिए मनुष्य के प्रति गहरी आस्था चाहिए। इसके लिए वह दुर्लभ संवेदना चाहिए जो किसी दूसरे के आँसू को अपना आँसू बना सके।

संजीव पालीवाल और मीनाक्षी चौधरी की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि उन्होंने सम्पा की कहानी लिखी नहीं, उसे जिया है। उन्होंने घटनाओं को दर्ज भर नहीं किया, उन्होंने उन धड़कनों को सुनने की कोशिश की है जो सम्पा से जुड़ी घटनाओं के पीछे छिपी हुई थीं।

किसी दूसरे की कथा में काया–प्रवेश वही कर सकता है जो मनुष्य से प्रेम करता हो। और इस पुस्तक में वही प्रेम बार–बार दिखाई देता है।

इसीलिए यह किताब समाचार की तरह नहीं पढ़ी जाती। यह एक जीवित अनुभव की तरह हमारे भीतर उतरती है।

किताब समाप्त हो जाती है, लेकिन सम्पा समाप्त नहीं होती। वह हमारे भीतर रह जाती है।

एक प्रश्न की तरह..

एक प्रेरणा की तरह...

एक असुविधाजनक स्मृति की तरह...

और सबसे बढ़कर एक विश्वास की तरह।

इस किताब को पढ़ना एक यात्रा पर निकलने जैसा है। कहानी इतनी रोचक और दिलचस्प है कि आपको किसी अतिरिक्त पाठकीय जिजीविषा की जरूरत नहीं पड़ेगी। पुस्तक हाथ में लेते ही कब आप आखिरी पन्ने तक पहुंच जाएंगे ये महसूस नहीं होगा। सम्पा की इस अनूठी कहानी को पढ़ा जाना चाहिए। यह अत्यंत सच्ची और प्रेरक कहानी है।

बधाई संपा, बधाई संजीव पालीवाल जी और मीनाक्षी चौधरी जी को इस पठनीय और प्रेरक किताब के लिए।

मेरा अनुभव यह है कि मैं संपा को पढ़ता गया और मनुष्य की जिजीविषा के सामने मेरा सिर झुकता चला गया। आप भी पढ़ें और देखें कि आप क्या महसूस करते हैं। विस्तृत लेख अभी आना बाकी है।

■

शब्द चिंतन

बुद्ध और फराओ का लोक चिंतन

डॉ. धर्मवीर सिंह *

कविताएं यूँ तो प्राचीन काल से ही हिन्दी साहित्य में प्रवाहित हैं, फिर भी प्रत्येक काल की प्रवृत्तियाँ भिन्न–भिन्न हैं, चूंकि प्रत्येक काल खंड के साथ समाज की संवेदना और चेतना बदलती है, लोग बदलते हैं। ठीक वैसे ही कविताओं में भी परिवर्तन आता है। साहित्य में प्रासंगिक केवल वही रहता है जो समय की संवेदना के साथ चलता है, हालांकि प्रासंगिकता किसी युग के ठहराव की निशानी भी है। बहरहाल यहां बात कविताओं की है तो हम विषय से भटकेंगे नहीं। कविताओं में सामाजिक परिवर्तन को तीव्रता से व्यक्त किया जाता है इसलिए आप देखेंगे कि साहित्यिक अथवा सामाजिक आंदोलनों को कविताओं से ही गति दी जाती है। दरअसल कविता की लत्यात्मक भाषा में यह विशेषता छुपी होती है कि वह पाठक को अपने जादू से छूटने नहीं देती। कविता में अधिकतर शब्दों की बजाय शब्दों के अर्थों में लय होती है।

आधुनिक काल में जहां व्यक्ति का जीवन दिन–प्रतिदिन नई जटिलताओं से घिरा जा रहा है। अतः संभव है कि यह जातिलताएं फिर साहित्य में भी दिखाई देंगी। हिन्दी साहित्य में जीवन की इन जटिलताओं को कथाकारों, कवियों ने बड़ी बारीकी से पकड़ा है। इसी कड़ी में अपने लेखन में सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक समझ लिए हुए युवा कवि दीपक जायसवाल अपने कविता संग्रह 'बुद्ध और फराओ' के साथ उपस्थित हैं।

संग्रह से गुजरते हुए पाठक कभी इतिहास और कभी वर्तमान का रोमांचित सफर तय करता है। इस संग्रह में कवि ने शब्दों के बनिस्बत अर्थों में कविता की लय को पिरोया है। कवि ने अपने समय के यथार्थ को संवेदनात्मक रूप में कविताओं में पिरोया है। प्रकृति के मानवीकरण की छटा भी निराली है। कवि की भाषा में ग्रामीण आंचलिकता के साथ नयी मुहावरेदार भाषा का भी सटीक प्रयोग देखने को मिलता है। शब्दों का चयन, ऐसा किया गया है कि कहीं भी भाषा उबाऊ, उलझाऊ प्रतीत नहीं होती, सरल शब्दों के साथ विषय विविधता को भी सामने लाना, हिन्दी कविता में युवा कवि का यह एक सार्थक प्रयास है।

* **संपर्क** – शोधार्थी, पता– म. न. 348, गली न. 4, ब्लॉक–डी, बेगम विहार, बेगमपुर दिल्ली– 110086, ईमेल– kumardharm30595@gmail-com, मो. 9899774747

आधुनिक हिन्दी साहित्य और समाज में तीव्रता से गिरते सामाजिक–मानवीय मूल्यों का आभास लगातार बना हुआ है। जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य की सभी विधाओं में देखी जा सकती है। अपने समय और समकालीनता से जुड़े युवा कवि दीपक जायसवाल भी अपनी कविता में प्रेम, संवेदना और भारतीय संस्कृति को विविध रूपों में अभिव्यक्त करते हैं। भिन्न–भिन्न स्थितियों के लिए भिन्न–भिन्न प्रतीकों व उपमानों का प्रयोग इनकी कविता में दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए यहां इनकी कविता 'लूनी नदी' को देखा जा सकता है–

'लेकिन कुछ नदियों को धरती सोख लेती है/या कोई रेगिस्तान उन्हें निगल जाता है।/एक उम्र तलक अपनी हड्डियाँ गलाने के बावजूद/ढेरों–ढेर लोग/एक सुंदर जीवन से कहीं बहुत दूर/गुमनाम मर जाते हैं/कोई समंदर उनका/ इंतजार नहीं कर रहा होता'।

प्रस्तुत कविता के अंश की भाषा और संवेदना प्रकृति का मानवीकरण करती हुई मानवीयता की धरती को स्पष्ट करती नजर आती है। एक ओर जहां यह कविता सामान्य प्राकृतिक दृश्यों से मानवीय संवेदना तक के भावों को समेटती हुई प्रेम के अभाव में मनुष्य के जीवन की कल्पना करती है और असंवेदनशील होते समाज को उसकी राह के बुरे परिणामों को दिखाकर, मानवीय संवेदना, भाईचारा और प्रेम की स्थापना पर जोर देती है।

दीपक जायसवाल की कविता समष्टि से व्यष्टि और व्यष्टि से समष्टि की यात्रा करती है, जहां भी कहीं–कहीं भावों की सघनता के कारण, जब कविता एक पंक्ति में व्यष्टि के करीब लगने लगती है, वहीं अगली पंक्ति में कविता चमत्कारिक ढंग से तुरंत समष्टि को प्राप्त कर लेती है। जैसे 'हम अपने घोंसलों में चाँद रखते हैं' कविता का यह अंश– 'चाँद हर बार सफेद नहीं दिखता/उनींदी आँखों से बहुत बार वह लाल दिखता है/मेरे दादा जब बहुत देर रात रात तक धान काटकर आते,/उनका हँसिया चाँद की तरह दिखता'।

भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में कुरीतियों और अंध आस्थाओं के बीच पड़े अज्ञानता के परदे को दीपक जायसवाल की कविता हटाती है, अथवा कहूँ कि तार–तार कर देती है। किन्तु समाज तब भी उन्हीं अंध आस्थाओं के बीच फंसा है, इसीलिए कवि बहुत बारीकी से जन–सामान्य को परदे के पीछे देखने की दृष्टि देता है। यहां कहीं भी इनकी कविता की भाषा शब्दों अथवा अर्थों की संवेदना से बाहर आक्रोश के भावों की अभिव्यक्ति नहीं करती है। एक कविता 'वैतरणी नदी' से उदाहरण देख सकते हैं– 'लदी रही जिम्मेदारियाँ/दबा रहा काम के बोझ तले/जीवन भर यह तन।/जलती रही जठराग्नि,/दाने–दाने को तरसता रहा मन/दान कहाँ से होता यमराज?/पुण्य तो बटोर ले गये/सामंत–पुरोहित–महंत–महाजन–महाराज!'

जिस सत्य को भी कवि उजागर करना चाहता है, उसे सरल व सधी हुई भाषा में ही कहता है। जन–सामान्य भी इनकी कविता से इसी कारण एक जुड़ाव

महसूस करता है।

केवल भारत में ही नहीं भूख की समस्या सम्पूर्ण विश्व में अपनी जड़े जमाए हुए है। भूख कोई जाति–धर्म और देश नहीं देखती वह तो असहाय व्यक्तियों के साथ जन्म–जन्मांतर तक लगी रहती है, युवा कवि दीपक जायसवाल की कविता 'भूख' यहां केवल भारतीय देश और परंपरा तक ही सीमित नहीं है अपितु इस कविता की संवेदना धरती पर प्राणी मात्र से जुड़ती है। मानव और मानवीयता को गहरे परिभाषित करती यह कविता देश–विदेश के नायकों–विचारकों की दृष्टि भी अपने में समाहित करती है। एक उदाहरण हम 'भूख' कविता से देख सकते हैं– 'मरता तो तब भी है/जब वह सिर्फ अपने लिए जीने लगता है/जब दुनिया में कहीं कोई आदमी भूख से मरता है/उस समय हर वह आदमी जिसकी आँखों का पानी मरा नहीं,/थोड़ा सा मर जाता है।'

युवा कवि दीपक जायसवाल के लेखन की चिंता एक व्यक्ति, समुदाय, समाज अथवा एक देश नहीं है। अपितु मानवीयता के स्तर पर उनकी चिंता विश्व स्तरीय है। इनका लेखन मानव के साथ हो रहे अन्याय के साथ–साथ मानव के साथ इतिहास में हुए अन्याय का भी हिसाब मांग रहा है। यह संग्रह वाकई पूर्ण रूप से मानवीयता के पक्ष में खड़ा है। उदाहरण स्वरूप – 'मिस्र के फराओ/अपने ऐश्वर्य को बनाए रखने के लिए/मृत्यु के बाद की/दुनिया के लिए भी/सोना–चांदी अपनी कब्रों में साथ ले गये/दफनाए गये हजारों–हजार गुलाम/जीते जी/कि राजा जब अपनी कब्र में हो/कि जब कभी एक रोज/फिर जी उठे तो/उसके पैर धूल धूसरित न हों।'

भले ही कोई व्यक्ति इतिहास में राजा था किन्तु जीवित गुलामों को उसकी कब्र में उसके साथ दफना देना कितना भयावह है, यह स्थिति मानवीयता के इतिहास में काला पन्ना ही कही जा सकती है। यहां स्वतः स्मरण हो आते हैं जयशंकर प्रसाद जिनकी कविता 'कलिंग विजय' में राजा और सिंहासन से परे वह मानव के मन के शासन को ही बड़ा ठहराते हैं। 'यह सुख कैसा शासन का, शासन रे मानव मन का' युवा कवि दीपक जायसवाल भी इसी मानवीयता की भाव भूमि को अपने लेखन के माध्यम से समाज और साहित्य में पुनः स्थापित करने का प्रयास करते नजर आते हैं।

संग्रह में भाषा की दृष्टि से एकदम नए बिंब भी युवा कवि ने गढ़े हैं जिसमें अपनी खुशी और गम को उन्होंने इस प्रकार अपने लेखन में पिरोया है कि वह भाव व्यक्तिक होकर भी सामाजिक होता चला जाता है। अपनी अनूठी कविता 'बाबूजी' में इन्होंने बहुत पुराने विषय होने पर भी नये प्रतीक और उपमान गढ़े हैं, उदाहरण के लिए हम 'बाबूजी' कविता अंश देख सकते हैं– 'बाबूजी का कण्ठ शिव जी/की तरह था जिसमें उन्होंने/ढेर सारा दुख और दर्द भर रखा था।/भरसक कोशिश करते कि वह इसे छिपाये रखें/मगर धीरे–धीरे वह नीला पड़ता जा रहा था'।

पुरुष और पुरुष में भी पिता बहुत कम ऐसा होता है कि एक पिता अपनी परेशानी अपने परिवार से साझा करे, वह सामाजिक और आर्थिक सभी प्रकार की समस्याओं का जहर स्वयं ही पीता रहता है। बस कभी–कभी उसके पिए जहर की हल्की झलक चेहरे अथवा बातों में दिख जाती है। युवा कवि दीपक जायसवाल ने यहां उस झलक को महसूस किया और उसकी शिवत्व के साथ तुलना कर शिव के नीले कंठ के उपमान से साहित्य की विराटता में एक और शून्य जोड़ा है। कवि ने अपने लेखन में नया विषय और विषय प्रस्तुति के साथ एक–एक कविता में प्राण डाल कर साहित्य और समाज दोनों का ही परिष्कार किया है। जहां इन्होंने छोटी कविताओं में गागर में सागर भर, अपने भावों की प्रस्तुति की है, वहीं लंबी कविताओं में भावों को पूर्ण स्वछंदता दी है, किन्तु यह स्वछंदता भी कविता के मूल भाव अथवा लयात्मकता को क्षति नहीं पहुंचाती है, बल्कि लंबी कविताओं में भावों के विस्तार के साथ भाषा की रोचकता और चमत्कारिता अधिक सौंदर्यपूर्ण बन पड़ी है।

इसी कड़ी में कवि ने सिर्फ एक जूते का दिखाना कितना भयावह हो सकता है इसकी कल्पना की है; कवि अपनी कविता में मार्मिकता के साथ नई भाषा और नए मुहावरे गढ़ रहा है। यहां 'प्रेमचंद के फटे जूते' की भांति अभाव ग्रस्त जीवन नहीं है, अपितु एक जोड़ी जूते में से सिर्फ एक जूते का दिखाना संपूर्ण परिवार की त्रासदी को व्यक्त कर रहा है। यह त्रासदी का नया मुहावरा है, कवि जानता है कि समाज में व्यक्ति के लिए जैसे दो हाथ आवश्यक हैं, वैसे ही दो पैर भी अर्थात जीवन की गाड़ी भी स्त्री पुरुष दो पहियों के मिलने से चलती है उदाहरण के लिए कविता का अंश देखिए– 'उम्र भर साथ रहने के बाद / पति–पत्नी में से एक का / पीछे रह जाना / रेल की पटरियों मेंन से एक का / उखड़ जाना / उन्मादी युद्ध के बाद / सैनिक का एक पाँव से घर लौटना'।

यह त्रासदी वाकई जीवन के लिए भयावह है, जहां व्यक्ति होकर भी पूर्ण अथवा संपूर्ण रूप में उपस्थित नहीं हो पाता! जीवन के कई पड़ावो पर वह सिर्फ एक अधूरा जूता रह जाता है अर्थात एक अधूरा व्यक्ति!, जिसमें निर्णय लेने की क्षमता घटती जाती है और एक जूता उसके जीवन में भी एक असीम अधूरापन लिए हुए आता है। जीवन जीते हुए कई दफा व्यक्ति को जीवन से अधिक मृत्यु प्रिय लगने लगने लगती है। यह सब इसलिए है क्योंकि पीछे रह गया है, सिर्फ एक अकेला जूता।

कवि ने लोक जीवन के छोटे–छोटे प्रसंग उठाकर उनमें साहित्य और समाज के लिए असीम संभावनाएं भरी हैं। आज जहां भारत में रहने वाले विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के लोग एक दूसरे से अजनबीयत और द्वेष महसूस करने लगे हैं। एक समय था जब भारत में गंगा जमुनी तहजीब की मिसालें दी जाती थी। और लोगों का दैनिक जीवन एक–दूसरे के परस्पर सहयोग से ही चलता था, उस समय भौतिक सुविधाएं कम थी किंतु लोगों में परस्पर प्रेम और भाईचारा भरपूर

था। युवा कवि दीपक जायसवाल समाज में आई इस अजनबीयत के भाव को कम करने के उद्देश्य से अपनी लंबी कविता 'लिखिए केदार नूर मियां की गुमशुदगी की रिपोर्ट' में भारतीय संस्कृति के परस्पर प्रेम और भाईचारे के गुण को समाज के सामने लाने का प्रयास करते दिखाई पढ़ते हैं, ताकि लोगों में परस्पर नफरत के स्थान पर प्रेम और संवेदना का भाव बना और बढ़ता रहे।

युवा कवि दीपक जायसवाल की कविताओं की बड़ी चिंता है, भारतीय संस्कृति को बाजार के संकट से बचाना। जैसे–जैसे बजार के माध्यम से भारत में विदेशी पूंजी का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है, वैसे–वैसे एक कृषि प्रधान देश, एक नौकर प्रधान देश बनता जा रहा है! भारत में बड़ी संख्या में हस्त करघा उद्योग, घरेलू उद्योग और कृषि की परंपरा रही है। आज इन सभी उद्योगों के साथ पारंपरिक कृषि पर भी संकट बढ़ता जा रहा है।

बाजार की मार ऐसी है कि एक ही प्रयोग अथवा आविष्कार से भारत के सैकड़ों उद्योग मौत के घाट उत्तर जाते हैं। इस प्रकार के प्रयोग सर्व प्रथम ब्रिटिश हुकूमत ने किये जब भारतीय किसानों से जबरन नील की खेती कराई गई थी और उसके बाद अब उदारीकरण के दौर में ऐसे सैकड़ों प्रयोग/उत्पाद भारत में आ चुके हैं, जिनकी आवश्यकता भारत में थी भी नहीं, उदाहरण स्वरूप– गाएं अथवा भैंस का नर जोड़ा, जिसका प्रयोग भारतीय गांवों में सामान ढोने तथा खेती करने में होता था, किंतु आधुनिकता की अंधी दौड़ में अब वे केवल बेकार अथवा मनुष्य का भोजन भर रह गए हैं। गाएं का गर्भ धारण भी अमेरिकी तकनीक से बीज के द्वारा किया जा रहा है। पृथ्वी पर बढ़ते शोर के कारण भी जीव–जंतुओं का जीवन भारी संकट में है, तिस पर यह नित नए प्रयोग! युवा कवि दीपक जायसवाल अपनी कविता 'गैस चेंबर' में लिखते हैं– 'मृत्यु आंकड़ों की शक्ल में आये/कितना वीभत्स है यह!/नाजियों ने बनाये इसके लिए/गैस चैंबर/पूंजीवादियों ने बनाये/बाजार।'

अतः भारत की एकता और अखंडता और परस्पर सहयोग करने की संस्कृति, बाजार के कारण खतरे में है। यहां यह छोटी–सी कविता हमें ठहरकर सोचने पर मजबूर करती है, कि आखिर हम किसके पीछे भाग रहे हैं, हम क्या पन चाहते हैं!!

इसी कड़ी में सामाजिक रिश्तों की गहरी तड़प भी इनके लेखन में दिखाई पड़ती है। इस प्रकार के विचारों का समर्थन करने वाली कविताएं जिसमें प्रमुखता में मां, बाबूजी और बहन के रिश्ते की मर्यादा दिखाई पड़ती है। इन कविताओं में 'मां', 'बाबूजी', 'मां और सूरज देव', 'पुरखों के घर', 'जब मायँ नहीं होती', 'जड़ें' और 'नानी की बंदूक', आदि की कविताओं को रखा जा सकता है। कविता में आगे बढ़ते हुए, दीपक जायसवाल अपनी परम्परा को भी अपने लेखन में साथ–साथ लेकर आगे बढ़ाते चल रहे हैं। इस कड़ी की कविताओं में प्रमुखता से – 'पाब्लो नेरुदा की छत से', 'गुरुत्व', 'गांधी महात्मा', 'शंख और लामा', 'विद्रोही कवि : फूल

मरे पर मरे न बासू', 'कबीरा खड़ा बाजार में जागे और रोवे', 'प्रेम के एक दिन मरते ही', 'जिजीविषा', 'ईश्वर', 'जीवन और मृत्यु', 'जश्न ए आजादी और गांधी जी', 'बिरसा मुंडा के लिए'। यह सभी कविताएं जहां जीवन की कड़ी आस्था है वहीं अंधविश्वासों के प्रति कड़ा विरोध भी है। कवि ने अपने लेखन में भारतीय समाज और साहित्य को समझते हुए सहज सरल जीवन जीने का मध्य मार्ग खोजा है, और उसे प्रेम के रूप में व्याख्यायित भी किया है।

जीवन में प्रेम को लेकर कवि ने अपने लेखन में भरपूर विचार किया है, चूंकि प्रेम बिना साहित्य रस और जीवन रस अधूरा है इस कड़ी की कविताओं में– 'लड़कियां', 'प्रेम', 'बोगनवेलिया', 'स्त्रियां और प्रेम' और अंत में इस संग्रह की रीड़ की कविताएं जिसमें युवा कवि दीपक जायसवाल ने न सिर्फ एक पिता और पुत्री के स्नेहिल संबंध को स्थापित किया है, अपितु समाज में बेटियों को लकर हो रहे दोहरे मानदंड को भी चुनौती दी है। इन इक्कीस कविताओं में जहां पाठक को एक पिता पुत्री का स्नेहल रिश्ता दिखेगा वही पाठकों को समकालीन दौर में चल रहे स्त्री–विमर्श की नई दिशा भी दिखाई पड़ेगी। अमूमन बेटियों को अपने पिता से सबसे अधिक प्रेम रहता है। अतः यहां युवा कवि पाठक समाज को एक अच्छे पिता और पुत्री का रिश्ते निभाने को भी प्रेरित करते हैं। और चूंकि आधुनिक जीवन में अवसाद को कम करने का यह सामाजिक तरीका है। इस प्रकार के लेखन का समाज और साहित्य में जितना खतरा है उतना ही आनंद भी है, क्योंकि इस प्रकार की कविता लिखने का साहस हर लेखक नहीं कर सकता जिस प्रकार सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने सरोज स्मृति की रचना कर अपनी पुत्री को अमर किया तथा पिता और पुत्री के स्नेहल प्रेम का एक मजबूत पक्ष समाज के सामने रखा। यहां युवा कवि दीपक जायसवाल ने अपनी पुत्री के माध्यम से समाज को बेटियों से प्रेम और संवाद स्थापित करने का गणसूत्र अपनी इन कविताओं में पिरोया है। युवा कवि दीपक जायसवाल के लेखन में समाज के सभी वर्गों का निष्पक्ष चित्रण हुआ है, यह संग्रह उनकी प्रगतिशील विचारधारा का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

■

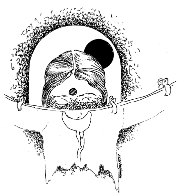

शब्द चिंतन

रामकाव्य की नवीन संवेदना

डॉ. आशीष कुमार पाण्डेय *

साहित्य में रामकथा भारतीय सभ्यता की सांस्कृतिक स्मृति नैतिक चेतना और जीवन–दर्शन का सबसे व्यापक एवं सर्वाधिक प्रभावशाली आख्यान है। भारतीय समाज ने अपने आदर्शों मर्यादाओं संघर्षों पारिवारिक मूल्यों राज्य–दृष्टि और लोकमंगल की कल्पना को सबसे अधिक यदि किसी चरित्र में मूर्त रूप दिया है तो वह राम हैं। यही कारण है कि राम केवल एक पौराणिक पात्र या आराध्य देवता नहीं बल्कि भारतीय मानस की सांस्कृतिक चेतना के शाश्वत प्रतीक हैं। वाल्मीकि के रामायण से लेकर भवभूति के उत्तररामचरित तुलसीदास के रामचरितमानस केशवदास की रामचंद्रिका मैथिलीशरण गुप्त के साकेत और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की राम की शक्ति–पूजा तक प्रत्येक रचनाकार ने राम को अपने समय की दृष्टि से देखा है। इसलिए रामकाव्य की परंपरा कभी स्थिर नहीं रही; वह निरंतर विकसित होती रही है। प्रत्येक युग ने अपने प्रश्नों के आलोक में राम की पुनर्व्याख्या की है और यही इस परंपरा की सबसे बड़ी जीवंतता है।

इक्कीसवीं शताब्दी का भारतीय समाज भी अनेक प्रकार के नैतिक सामाजिक सांस्कृतिक और वैचारिक संक्रमणों से गुजर रहा है। मूल्य और बाजार परंपरा और आधुनिकता व्यक्तिवाद और लोकमंगल अधिकार और कर्तव्य के बीच निरंतर द्वंद्व उपस्थित है। ऐसे समय में यदि कोई रचनाकार रामकथा की ओर लौटता है तो उससे केवल कथा के पुनर्लेखन की अपेक्षा नहीं की जाती अपितु यह अपेक्षा की जाती है कि वह रामकथा के भीतर से आज के मनुष्य के लिए नए अर्थ खोजे। आशुतोष अग्निहोत्री का काव्य–संग्रह 'सब पर राम : तपस्वी राजा' इसी अर्थ में समकालीन हिंदी साहित्य की एक महत्वपूर्ण कृति है। यह पुस्तक रामत्व की पुनर्खोज करती है साथ ही वर्तमान के नैतिक प्रश्नों के बीच राम के व्यक्तित्व को पुनः स्थापित करने का सृजनात्मक प्रयास है।

इस काव्य–संग्रह की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक का लक्ष्य घटनाओं का विस्तार करना नहीं है। रामकथा के प्रसंग भारतीय समाज के लिए

* **संपर्क** – हिंदी विभाग, हंसराज कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110007

सर्वविदित हैं; इसलिए कवि उन घटनाओं को दुहराने में अपनी ऊर्जा व्यय नहीं करते। वे उन घटनाओं के पीछे छिपे मौन उन पात्रों के अंतर्मन में चल रहे संघर्ष उनकी संवेदनाओं उनके आत्मसंवाद और उनकी मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं को स्वर देते हैं। यही कारण है कि यह कृति कथा की अपेक्षा चेतना का काव्य अधिक प्रतीत होती है।

किसी भी साहित्यिक कृति का शीर्षक उसके संपूर्ण दर्शन का संकेतक होता है। इस दृष्टि से 'सब पर राम तपस्वी राजा' अत्यंत सार्थक और विचारोत्तेजक शीर्षक है। सामान्यतः राजा का संबंध शक्ति वैभव सामर्थ्य और शासन से जोड़ा जाता है जबकि तपस्वी त्याग संयम आत्मानुशासन और लोककल्याण का प्रतीक माना जाता है। पहली दृष्टि में ये अवधारणाएँ परस्पर विरोधी प्रतीत होती हैं किंतु आशुतोष अग्निहोत्री इन्हें राम के व्यक्तित्व में इस प्रकार एकाकार करते हैं कि यह विरोध स्वयं समाप्त हो जाता है। उनके यहाँ राम इसलिए महान नहीं हैं कि वे राजा हैं; वे इसलिए महान हैं कि राजा होकर भी तपस्वी हैं। वे सत्ता के उपभोगकर्ता नहीं सत्ता के संयमी साधक हैं। यह दृष्टि राम के चरित्र को धार्मिक आस्था से ऊपर उठाकर नैतिक नेतृत्व के आदर्श के रूप में स्थापित करती है। लेखक का यह दार्शनिक दृष्टिकोण समकालीन राजनीतिक और सामाजिक संदर्भों में भी अत्यंत अर्थपूर्ण हो उठता है।

कवि की रचनात्मक दृष्टि का परिचय प्रारंभिक रचनाओं से ही मिलने लगता है। वे लिखते हैं–

'वन–वन घूम देश को बाँधा दीन–दुखी को देकर काँधा।
तप से शठ अभिमान मिटाकर सीता को सम्मान दिलाकर'

पहली दृष्टि में यह एक सरल गीतात्मक अभिव्यक्ति प्रतीत होती है किंतु इसकी व्यंजना अत्यंत व्यापक है। 'देश को बाँधा' का आशय केवल राम की वनयात्रा नहीं है; यह भारत की सांस्कृतिक एकता का प्रतीक है। राम उत्तर से दक्षिण और वन से नगर तक जिस प्रकार विभिन्न समुदायों जातियों जनजातियों और संस्कृतियों को जोड़ते हैं कवि उसी सांस्कृतिक सेतु का स्मरण कराते हैं। दूसरी पंक्ति 'दीन–दुखी को देकर काँधा' राम को शक्ति के प्रतीक के रूप में नहीं बल्कि करुणा के प्रतीक के रूप में स्थापित करती है। आधुनिक समय में नेतृत्व की सबसे बड़ी पहचान संवेदनशीलता मानी जाती है; कवि ने राम के इसी स्वरूप को अत्यंत सहजता से सामने रखा है। इन पंक्तियों में इतना व्यापक सांस्कृतिक और दार्शनिक आशय समेट लेना कवि की परिपक्व अभिव्यक्ति का प्रमाण है।

संग्रह का एक और महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि लेखक राम को अलौकिक चमत्कारों के देवता के रूप में प्रस्तुत नहीं करते। वे उन्हें मनुष्य की सर्वोच्च संभावनाओं के रूप में चित्रित करते हैं। यही कारण है कि इस कृति में राम का ईश्वरत्व उनके मनुष्यत्व के भीतर से प्रकट होता है। वे दुखी भी होते हैं निर्णय भी लेते हैं त्याग भी करते हैं किंतु प्रत्येक स्थिति में मर्यादा का पालन करते हैं।

आशुतोष अग्निहोत्री की दृष्टि में राम की सबसे बड़ी शक्ति उनका धनुष नहीं उनका आत्मसंयम है; उनका सबसे बड़ा वैभव अयोध्या का सिंहासन नहीं लोककल्याण के लिए सब कुछ त्याग देने की क्षमता है। यही विचार इस पूरे काव्य–संग्रह की आत्मा बनकर बार–बार विभिन्न प्रसंगों में उभरता है।

यहीं से यह कृति अपने समय से संवाद करना प्रारंभ करती है। आज का समाज सफलता को पद प्रतिष्ठा और अधिकार से मापता है जबकि यह पुस्तक बार–बार यह स्थापित करती है कि चरित्र संयम और कर्तव्य ही मनुष्य की वास्तविक पहचान हैं।

काव्य–संग्रह 'सब पर राम : तपस्वी राजा' की सबसे बड़ी साहित्यिक उपलब्धि यह है कि लेखक ने रामायण के बहुचर्चित प्रसंगों को केवल घटनाओं के रूप में नहीं देखा बल्कि उन्हें मानवीय मनोविज्ञान के धरातल पर पुनः स्थापित किया है। यही कारण है कि इस कृति का पाठ करते समय पाठक को बार–बार यह अनुभव होता है कि वह किसी धार्मिक आख्यान का नहीं मनुष्य के भीतर चल रहे नैतिक संघर्षों का साक्षी है। लेखक ने कथा को इतिहास से उठाकर संवेदना के धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। यही उनकी मौलिकता है।

विशेष रूप से दशरथ और राम का संवाद इस कृति का भावात्मक तथा वैचारिक केंद्र है। भारतीय साहित्य में दशरथ को प्रायः वचनबद्ध राजा या पुत्र–वियोग से मृत पिता के रूप में देखा गया है किंतु आशुतोष अग्निहोत्री उनके व्यक्तित्व के एक ऐसे पक्ष को उद्घाटित करते हैं जिस पर अपेक्षाकृत कम विचार हुआ है। यहाँ दशरथ की सबसे बड़ी पीड़ा राम का वनगमन नहीं बल्कि अपने ही पुत्र के विश्वास के सम्मुख स्वयं को असहाय पाना है। यही कारण है कि वे कहते हैं– 'जो मस्तक पर मैं धारे था/वह मुकुट नहीं विश्वास पुत्र।'

इन पंक्तियों में कवि ने दशरथ के समूचे चरित्र का पुनर्सृजन कर दिया है। सामान्यतः मुकुट राजसत्ता का प्रतीक माना जाता है किंतु यहाँ वह विश्वास का रूपक बन जाता है। यह अत्यंत सूक्ष्म और प्रभावशाली प्रतीक–विधान है। लेखक संकेत करते हैं कि किसी राजा की वास्तविक शक्ति उसका राजदंड नहीं बल्कि उसकी नैतिक विश्वसनीयता होती है। जिस क्षण विश्वास टूटता है उसी क्षण सत्ता का वैभव भी अपना अर्थ खो देता है। यह केवल दशरथ की आत्मस्वीकृति नहीं बल्कि प्रत्येक उत्तरदायी व्यक्ति के जीवन का शाश्वत सत्य है।

यहीं आशुतोष अग्निहोत्री अन्य रामकाव्यों से भिन्न दिखाई देते हैं। वे पात्रों को देवत्व के सिंहासन पर नहीं बैठाते। वह राम को मनुष्य के रूप में समझने का प्रयास करते हैं। उनके दशरथ रोते हैं, टूटते हैं, आत्मग्लानि से भर जाते हैं और अपने निर्णयों का बोझ स्वयं उठाते हैं। यही मानवीय धरातल इस कृति को आधुनिक संवेदनशीलता से जोड़ता है।

इसी प्रकार राम का चरित्र भी यहाँ किसी चमत्कारी देवता का नहीं सिद्धांतों पर अडिग मनुष्य का चरित्र है। लेखक ने राम के व्यक्तित्व का सार

अत्यंत प्रभावशाली शब्दों में व्यक्त किया है–

'जो पद पाने की अभिलाषा में/गिर जाए वह राम नहीं।/जो अपनों से भी ज्यादा/अपने को चाहे वह राम नहीं।'

यहाँ राम केवल वनगमन का औचित्य सिद्ध नहीं कर रहे वह नेतृत्व का शाश्वत सिद्धांत प्रतिपादित कर रहे हैं। आज जब राजनीति प्रशासन शिक्षा और सामाजिक जीवन में पद को सेवा से अधिक महत्व मिलने लगा है तब ये पंक्तियाँ किसी नैतिक उद्घोष की तरह सामने आती हैं। कवि ने राम को इतिहास का पात्र नहीं रहने दियाय उन्होंने उन्हें समकालीन समाज के लिए नैतिक कसौटी बना दिया है। यही किसी कालजयी साहित्य की पहचान होती है।

कैकेयी का चित्रण इस कृति की एक और महत्वपूर्ण उपलब्धि है। हिंदी साहित्य में कैकेयी को प्रायः एकांगी रूप से प्रस्तुत किया गया है मानो वे केवल महत्वाकांक्षा की प्रतीक हों। किंतु आशुतोष अग्निहोत्री इस रूढ़ छवि को तोड़ते हैं। वे कैकेयी के भीतर चल रहे द्वंद्व को बड़ी संवेदनशीलता से चित्रित करते हैं। उनके यहाँ कैकेयी अपराधबोध से भरी हुई स्त्री हैं जो एक ओर अपने निर्णय का भार उठाती हैं और दूसरी ओर राम के प्रति अपने स्नेह को भी छिपा नहीं पातीं। इस प्रकार लेखक कैकेयी को खलनायिका नहीं त्रासद मानवीय चरित्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

यही इस कृति की सबसे बड़ी शक्ति है कि लेखक किसी पात्र का न्यायाधीश नहीं बनते। वे न तो कैकेयी का महिमामंडन करते हैं और न ही उनका दानवीकरण। वे केवल उनके भीतर के मनुष्य को सामने लाते हैं। यही दृष्टि एक बड़े रचनाकार की पहचान है। साहित्य का कार्य निर्णय सुनाना नहीं बल्कि मनुष्य को उसकी सम्पूर्ण जटिलता के साथ समझना है। आशुतोष अग्निहोत्री इस कसौटी पर पूर्णतः सफल दिखाई देते हैं।

इन सभी प्रसंगों को पढ़ते हुए सहज ही अनुभव होता है कि लेखक ने रामायण के पात्रों को इतिहास की मूर्तियों के रूप में नहीं देखा बल्कि आज के मनुष्य की तरह समझा है। यही कारण है कि इस कृति के संवाद त्रेतायुग की घटनाएँ नहीं लगते वह हमारे अपने समय के नैतिक प्रश्न बन जाते हैं।

पुस्तक की सबसे बड़ी रचनात्मक उपलब्धियों में यदि किसी एक पक्ष का विशेष उल्लेख किया जाए तो निःसंदेह वह है रामायण के उन पात्रों को केंद्र में प्रतिष्ठित करना जो मूल कथा में उपस्थित तो हैं किंतु जिनकी संवेदनाएँ प्रायः महाकाव्य की विराटता के बीच दब जाती हैं। राम, सीता, लक्ष्मण और भरत जैसे प्रमुख पात्रों पर सदियों से विपुल साहित्य रचा गया है परंतु उर्मिला, श्रुतकीर्ति, माण्डवी, मन्दोदरी और यहाँ तक कि कैकेयी जैसी स्त्रियों के अंतर्मन तक बहुत कम कवि पहुँच पाए हैं। आशुतोष अग्निहोत्री की मौलिकता इसी बात में है कि उन्होंने इतिहास के मुख्य मंच पर नहीं बल्कि उसके नेपथ्य में जलते दीपकों को देखने का साहस किया है। यह दृष्टि केवल साहित्यिक नहीं सांस्कृतिक और

मानवीय भी है।

भारतीय महाकाव्य परंपरा में अक्सर युद्ध विजय और राजधर्म की चर्चा अधिक हुई है जबकि मौन त्याग प्रतीक्षा और आत्मबलिदान को अपेक्षित स्थान नहीं मिला। यह काव्य–संग्रह उसी विस्मृत पक्ष का पुनर्स्मरण है। लेखक मानो यह कहना चाहते हैं कि किसी भी महान इतिहास का निर्माण केवल वे लोग नहीं करते जिनके नाम इतिहास में दर्ज होते हैं; अनेक ऐसे व्यक्तित्व भी होते हैं जिनका त्याग इतिहास की नींव बनता है किंतु जिनकी कथा समय की धूल में दब जाती है। यह पुस्तक उन मौन पात्रों के प्रति साहित्य का एक विनम्र नमन है।

इस संदर्भ में उर्मिला पर लिखी गई कविताएँ पूरे संग्रह की सबसे मार्मिक उपलब्धियों में गिनी जा सकती हैं। हिंदी साहित्य में मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत के माध्यम से उर्मिला को नई प्रतिष्ठा दी थी किंतु आशुतोष अग्निहोत्री का दृष्टिकोण उससे भिन्न है। वे उर्मिला के त्याग का केवल वर्णन नहीं करते बल्कि उसके मनोविज्ञान में प्रवेश करते हैं। उर्मिला केवल लक्ष्मण की पत्नी नहीं हैं; वे उस स्त्री की प्रतिनिधि हैं जिसे जीवन का सबसे बड़ा संघर्ष बिना किसी यश, बिना किसी प्रशंसा और बिना किसी इतिहास के लड़ना पड़ता है।

कवि लिखते हैं–

'मुझको तो यह लगता था कि जीवन का मधुमास मिला
लेकिन मुझको वैभव की परिसीमा में वनवास मिला।'

इन पंक्तियों में निहित 'वैभव की परिसीमा में वनवास' जैसा रूपक हिंदी काव्य की अत्यंत प्रभावशाली अभिव्यक्तियों में स्थान पाने योग्य है। वनवास सामान्यतः अभाव कष्ट और कठिनाइयों का प्रतीक माना जाता है किंतु कवि ने राजमहल के भीतर के एकाकी जीवन को उससे भी बड़ा वनवास सिद्ध किया है। यह केवल उर्मिला की पीड़ा नहीं है; यह उन असंख्य स्त्रियों का सांस्कृतिक रूपक है जिनके जीवन में बाहरी वैभव होते हुए भी भावनात्मक रिक्तता बनी रहती है। यह अभिव्यक्ति पाठक को केवल द्रवित नहीं करती उसे स्त्री–जीवन के उस मौन पक्ष से परिचित कराती है जिसे साहित्य ने लंबे समय तक पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया। उर्मिला के प्रसंगों में आशुतोष अग्निहोत्री का कविमन सबसे अधिक संवेदनशील दिखाई देता है। वे आँसुओं का वर्णन नहीं करते बल्कि उस मौन का चित्रण करते हैं जिसमें आँसू भी सूख जाते हैं। यही कारण है कि उर्मिला का चरित्र इस संग्रह में करुणा का नहीं बल्कि धैर्य और आत्मबल का प्रतीक बनकर उभरता है। यह प्रस्तुति आधुनिक स्त्री–विमर्श के अनेक बिंदुओं से संवाद करती है किंतु कहीं भी वैचारिक आग्रह का बोझ नहीं उठाती। कवि की सबसे बड़ी सफलता यही है कि वे विचार को कविता बनने देते हैं।

यदि उर्मिला इस कृति की करुणा हैं तो श्रुतकीर्ति इसकी सबसे मौलिक खोज हैं। रामकाव्य परंपरा में श्रुतकीर्ति पर बहुत कम लिखा गया है। सामान्य पाठक तो अनेक बार उनका नाम तक स्मरण नहीं रख पाता। आशुतोष अग्निहोत्री

ने इसी उपेक्षित पात्र को जिस आत्मीयता और सम्मान के साथ चित्रित किया है वह इस संग्रह की विशिष्ट उपलब्धियों में गिना जाएगा। श्रुतकीर्ति कहती हैं–

'कभी किसी भी सघन पृष्ठ पर नाम नहीं दिख पाएगा
किन्तु कीर्ति के तरल हृदय में वही स्वतः लिख जाएगा।'

इन पंक्तियों की व्यंजना अत्यंत व्यापक है। यहाँ 'सघन पृष्ठ' केवल इतिहास नहीं है वह समूची सामाजिक स्मृति है जहाँ कुछ नाम बार–बार लिखे जाते हैं और कुछ नाम सदैव हाशिए पर रह जाते हैं। कवि ने अत्यंत सहज शब्दों में इतिहास और स्मृति के बीच का अंतर स्पष्ट कर दिया है। इतिहास नामों को दर्ज करता है किंतु हृदय त्याग को याद रखता है। यही इस कविता का सबसे बड़ा संदेश है। श्रुतकीर्ति का चरित्र इस संग्रह में उन सभी अनाम व्यक्तित्वों का प्रतिनिधि बन जाता है जिनके त्याग के बिना कोई महान परंपरा संभव नहीं होती। आशुतोष अग्निहोत्री ने इस पात्र के माध्यम से वस्तुतः इतिहास–दृष्टि पर भी प्रश्नचिह्न लगाया है। वे संकेत करते हैं कि इतिहास केवल विजेताओं का नहीं होना चाहिए; उसमें उन मौन आत्माओं का भी स्थान होना चाहिए जिन्होंने बिना किसी प्रतिफल की अपेक्षा के अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया।

मन्दोदरी का चित्रण भी उतना ही उल्लेखनीय है। सामान्यतः रामायण में मन्दोदरी को रावण की विवेकशील पत्नी के रूप में देखा जाता है किंतु यहाँ लेखक उनके भीतर के उस गहन संताप को शब्द देते हैं जो एक ऐसे व्यक्ति के साथ जीवन बिताने की विवशता से उत्पन्न होता है जिसकी प्रतिभा उसके अहंकार के सामने पराजित हो चुकी है। मन्दोदरी के माध्यम से कवि केवल एक पत्नी का दुख नहीं कहते; वे यह स्थापित करते हैं कि किसी भी परिवार का सबसे बड़ा संकट बाहरी शत्रु नहीं बल्कि भीतर का अहंकार होता है।

रावण और मन्दोदरी के प्रसंगों में लेखक का दृष्टिकोण विशेष रूप से संतुलित है। वे न तो रावण का महिमामंडन करते हैं और न ही उसे एकरेखीय खलनायक बनाते हैं। जब रावण स्वीकार करता है–

'सब कहते मुझको ज्ञानी हैं
पर ज्ञान बड़ा अभिमानी है।'

तो यह स्वीकारोक्ति केवल रावण की नहीं रह जातीय वह समूचे मानव इतिहास की त्रासदी बन जाती है। ज्ञान यदि विनम्रता से रहित हो जाए तो वह निर्माण नहीं विनाश का कारण बनता है। आशुतोष अग्निहोत्री ने इस छोटी–सी अभिव्यक्ति में भारतीय दर्शन का एक गहन सत्य समेट दिया है।

इस पूरे संग्रह का अध्ययन करते हुए यह स्पष्ट होता है कि लेखक स्त्री–पात्रों को केवल करुणा का विषय नहीं बनाते। वे उन्हें विचार विवेक धैर्य और नैतिक शक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं। कौशल्या के प्रश्न हों, कैकेयी की ग्लानि हो, उर्मिला की प्रतीक्षा हो, श्रुतकीर्ति का मौन हो या मन्दोदरी का विवेक सभी पात्र अपनी स्वतंत्र मानवीय पहचान के साथ उपस्थित हैं। यह दृष्टि इस

कृति को आधुनिक संवेदना से जोड़ती है।

किसी भी काव्य–कृति का स्थायित्व केवल उसके कथ्य से निर्धारित नहीं होता; उसकी वास्तविक शक्ति उसकी अभिव्यक्ति भाषा शिल्प प्रतीक–योजना और भाव–संरचना में निहित होती है। अनेक बार विषय अत्यंत महान होता है किंतु भाषा उसका साथ नहीं दे पाती और अनेक बार भाषा इतनी अलंकृत हो जाती है कि भाव उससे पीछे छूट जाते हैं। आशुतोष अग्निहोत्री का काव्य–संग्रह इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यहाँ कथ्य और शिल्प का संतुलन अत्यंत स्वाभाविक रूप में उपस्थित हुआ है। कवि न तो भाषा के वैभव का अनावश्यक प्रदर्शन करते हैं और न ही भावों को अत्यधिक सरल बनाकर उनकी गरिमा कम होने देते हैं। उनकी भाषा में संस्कृतनिष्ठ गरिमा भी है लोकजीवन की आत्मीयता भी है गीतात्मक प्रवाह भी है और संवाद की सहजता भी। यही संतुलन इस संग्रह को विद्वानों और सामान्य पाठकों दोनों के लिए समान रूप से ग्राह्य बनाता है।

आशुतोष अग्निहोत्री की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें कृत्रिमता नहीं है। रामकथा जैसा विषय सहज ही अलंकारिक अत्यधिक संस्कृतनिष्ठ और उपदेशात्मक भाषा की ओर ले जा सकता था किंतु कवि ने इस प्रलोभन से स्वयं को बचाया है। उनकी भाषा में शास्त्रीय गरिमा तो है पर वह बोझिल नहीं होतीय उसमें भावुकता है पर वह भावुकतावाद नहीं बनतीय उसमें दर्शन है पर वह दुरूह नहीं होता। यह संतुलन किसी भी परिपक्व कवि की पहचान है।

संग्रह का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण पक्ष इसका संवाद–विधान है। सामान्यतः आधुनिक कविता आत्मकथात्मक या वर्णनात्मक शैली की ओर अधिक उन्मुख दिखाई देती है जबकि आशुतोष अग्निहोत्री ने संवाद को अपनी अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम बनाया है। यही कारण है कि उनकी अनेक कविताएँ पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई नाट्य–दृश्य हमारे सामने घटित हो रहा हो। पात्र केवल शब्द नहीं बोलते वे अपने भीतर की संपूर्ण भाव–भूमि के साथ उपस्थित होते हैं। दशरथ की विवशता, कौशल्या का प्रश्न, कैकेयी की ग्लानि, उर्मिला का मौन, श्रुतकीर्ति का आत्मसंयम और रावण का आत्मबोध ये सभी संवाद पाठक के मन में दृश्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। यह नाटकीयता कृत्रिम नहीं बल्कि भावों की स्वाभाविक परिणति है।

कृति की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता इसका प्रतीक–विधान है। आशुतोष अग्निहोत्री वस्तुओं को केवल वस्तु नहीं रहने देते; वे उन्हें विचार और दर्शन का प्रतीक बना देते हैं। 'मुकुट' राजसत्ता से आगे बढ़कर विश्वास का प्रतीक बन जाता हैय 'वनवास' केवल भौगोलिक दूरी नहीं रह जाता बल्कि आत्मानुशासन त्याग और आंतरिक साधना का रूप ग्रहण कर लेता हैय 'सेतु' केवल समुद्र पर बना पुल नहीं बल्कि मनुष्य और मनुष्य के बीच विश्वास करुणा और सांस्कृतिक एकात्मता का प्रतीक बन जाता हैय 'तप' केवल धार्मिक साधना नहीं बल्कि

चरित्र–निर्माण और आत्मविजय की प्रक्रिया बनकर उभरता है। यही बहुस्तरीय प्रतीकात्मकता इस संग्रह को बार–बार पढ़े जाने योग्य बनाती है।

यदि पुस्तक की सबसे बड़ी साहित्यिक विशेषता का उल्लेख करना हो तो वह है इसके भीतर प्रवाहित मानवीय संवेदना। लेखक ने कहीं भी पात्रों पर अपने विचार आरोपित नहीं किए हैं। वे उन्हें बोलने देते हैं, उन्हें रोने देते हैं, उन्हें प्रश्न करने देते हैं, उन्हें पश्चाताप करने देते हैं और अंततः उन्हें स्वयं अपने सत्य तक पहुँचने देते हैं। यही कारण है कि यह कृति उपदेश नहीं देती अपितु आत्ममंथन के लिए प्रेरित करती है। एक बड़ा साहित्य वही होता है जो पाठक को उत्तर देने के बजाय प्रश्नों के साथ छोड़ जाए। आशुतोष अग्निहोत्री इस कसौटी पर पूर्णतः सफल सिद्ध होते हैं।

समकालीन हिंदी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में इस कृति का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। वर्तमान समय में पौराणिक आख्यानों का पुनर्पाठ अनेक स्तरों पर हो रहा है। कहीं उन्हें वैचारिक विमर्श का माध्यम बनाया जा रहा है, कहीं राजनीतिक प्रतीक के रूप में देखा जा रहा है और कहीं सांस्कृतिक पहचान के आधार के रूप में। ऐसे समय में 'सब पर राम : तपस्वी राजा' इन सभी सीमाओं से ऊपर उठकर रामकथा को मूलतः मानवीय संवेदना के धरातल पर पुनः स्थापित करती है। यह पुस्तक मनुष्य के भीतर निहित मर्यादा करुणा त्याग और आत्मसंयम की पुनर्खोज है। यही इसकी सबसे बड़ी शक्ति है।

आशुतोष अग्निहोत्री की यह विशेषता भी उल्लेखनीय है कि वे राम को इतिहास का विषय नहीं रहने देतेय वे उन्हें वर्तमान का नैतिक संदर्भ बना देते हैं। उनके यहाँ राम केवल त्रेतायुग के नायक नहीं हैं आज के समाज के लिए भी उतने ही आवश्यक मूल्य हैं। यही कारण है कि इस पुस्तक की अनेक पंक्तियाँ पाठ समाप्त होने के बाद भी लंबे समय तक पाठक के भीतर गूँजती रहती हैं। यही किसी प्रभावशाली साहित्य की सबसे बड़ी पहचान है।

यदि समकालीन हिंदी रामकाव्य की परंपरा में इस पुस्तक का स्थान निर्धारित किया जाए तो यह कहना अनुचित नहीं होगा कि 'सब पर राम : तपस्वी राजा' उन कृतियों में सम्मिलित है जिन्होंने रामकथा के बहुचर्चित प्रसंगों से अधिक उसके मौन प्रदेशों को स्वर दिया है। इस संग्रह की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि यह प्रसिद्ध कथा में भी अप्रकाशित भावों का अन्वेषण करता है। लेखक ने रामायण को दोहराया नहीं बल्कि उसके भीतर छिपी हुई मानवीय संवेदनाओं का पुनः आविष्कार किया है। यही किसी भी मौलिक रचनाकार का सबसे बड़ा साहित्यिक गुण है।

■

शब्द चिंतन

सीताराम दीन का साहित्य चिंतन

डॉ. मनोज कुमार गुप्ता*

डॉ. सीताराम दीन का जन्म सन् 1929 ई. में बिहार के सीतामढ़ी जिले के डुमरी नामक गाँव में हुआ था। वे एक जमींदार खानदान से ताल्लुक रखते थे, बावजूद इसके उनका जीवन संघर्षों से भरा रहा। बचपन में ही पिता के निधन के बाद उनके ही सगे–संबंधियों ने उनकी जमीन–जायदाद पर नाजायज तरीके से कब्जा कर लिया। हालात इतने खराब हो गए कि क्षुब्ध होकर उन्होंने गाँव छोड़ दिया और फौज में भर्ती हो गये। करीब दो वर्ष तक सेना में कार्य करने के बाद उन्होंने पुनः अपनी अधूरी पढ़ाई शुरू की और कठिन संघर्ष करते हुए विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा उच्चतम अंकों सहित प्राप्त किया। आगे चलकर डॉ. सीताराम दीन बिहार के प्रतिष्ठित कॉलेज ऑफ कॉमर्स में व्याख्याता नियुक्त हुए, जहाँ उन्होंने लगभग तीस वर्षों तक एक लोकप्रिय प्राध्यापक के रूप में अपनी सेवाएँ दीं। यह अवधि सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि से उनके जीवन की सबसे अधिक उर्वर अवधि सिद्ध हुई। संत कबीर के दार्शनिक तथा समाज–चिंतक व्यक्तित्व एवं साधना पंथ से अतिशय प्रभावित डॉ. दीन कबीर को इस कदर प्रेम करते थे कि लोग उन्हें कबीरपंथी समझ लेते, यद्यपि वे कभी भी विधिवत कबीरपंथ में दीक्षित नहीं हुए थे। 'कबीर के दर्शन और काव्य के स्रोत' विषय पर प्रस्तुत उनका डी. लिट् शोध प्रबंध दर्शाता है कि उन्होंने कितना डूबकर गहन अध्ययन किया होगा। कबीर की ही भाँति उन्होंने सदैव जातिगत बंधनों और भेदभाव का विरोध किया, सामाजिक सद्भाव के प्रति सजग रहे। उनके भीतर किसी भी प्रकार का श्रेष्ठताबोध नहीं था; शायद यही कारण था कि वे अपने नाम के साथ 'दीन' लिखते थे।

लोगों को उम्मीद थी कि महाविद्यालय की जिम्मेदारियों से मुक्त होने के बाद उनकी लेखनी को नई गति मिलेगी, लेकिन दुर्भाग्यवश ऐसा संभव न हो सका। अवकाश प्राप्ति के कुछ ही समय बाद उनका असामयिक निधन हो गया। स्वाभिमान से प्रदीप्त, सदा कर्तव्यनिष्ठ, ऊर्जावान व्यक्तित्व वाले लगभग साठ

* **संपर्क** – सहायक प्राध्यापक, कॉलेज ऑफ कॉमर्स साईंस एवं आट्र्स, पटना–800 020 (बिहार)

वर्षों के अपने जीवन में डॉ. दीन ने संघर्ष की एक लंबी यात्रा तय की, किंतु यह संघर्ष उनके जीवन का स्याह नहीं, बल्कि सबसे रौशन पक्ष है। यह संघर्ष उनके साहित्य, चिंतन और रचना–दृष्टि को व्यापक फलक प्रदान करता है, विस्तार देता है।

रचना–संसार: डॉ. दीन के रचना–संसार का एक बहुत बड़ा हिस्सा अभी भी अप्रकाशित है। कई किताबें उनके निधन के बाद प्रकाशित हुईं। इन किताबों के प्रकाशन में उनकी पत्नी डॉ. उषारानी सिंह की बहुत बड़ी भूमिका रही है। हालाँकि डॉ. दीन की जो किताबें प्रकाशित भी हैं, उनमें से कई किताबें आज अनुपलब्ध हैं। लेकिन फिर भी जो किताबें पुस्तकालय या व्यक्तिगत संग्रह से प्राप्त हो सकीं, उनका विवरण इस प्रकार है –

काव्य संग्रह : मांगलिका (1963), मनुजता की मौत : एक परिक्रमा (1990), उगा एक नया सूर्य प्राची में (1991), चंदन का धुआँ (1992), बज्जिका काव्य संग्रह : डुमरी हम्मर गाँव (1996), गीत संग्रह :' गीत बहुत गाया किया (2000), निबंध–आलेख : मनीषा : दृष्टि और दिशाएँ (1974), मेरा मन पंछी (1990), आलोचना : साहित्यालोचन : सिद्धांत और अध्ययन (1971), रेडियो रूपक :' रामू की झोपड़ी (2000), सैन्य विज्ञान : सैन्य विज्ञान की रूपरेखा (1974), शोध ग्रंथ : कबीर के दर्शन और काव्य के स्रोत (प्रकाशनाधीन)

साहित्य–चिंतन : डॉ. सीताराम दीन के साहित्य–चिंतन को समझने के लिए 'साहित्यालोचन : सिद्धांत और अध्ययन' सबसे बुनियादी किताब है। अलग–अलग जगहों पर दिए गए वक्तव्यों का संकलन 'मनीषा : दृष्टि व दिशाएँ' उनकी आलोचना–दृष्टि को समझने के लिए एक जरूरी कुंजी उपलब्ध कराता है। इसके अलावा 'मेरा मन पंछी', जो कि उनके कबीर–विषयक निबंधों का संग्रह है, वह भी इस दृष्टि से अत्यंत उपयोगी रचना है। मरणोपरांत डॉ. दीन की स्मृति में जो स्मृतिग्रंथ प्रकाशित हुआ, उसमें भी कई ऐसे संस्मरण और आलेख हैं, जो उनकी रचना–दृष्टि को समझने में मदद करते हैं।

डॉ. दीन मूलतः एक कवि थे। उनकी कविताओं को हटाकर उनके चिंतन पर बात नहीं की जा सकती। उनकी कविताओं को परखना इसलिए भी आवश्यक है कि 'साहित्यालोचन : सिद्धांत और अध्ययन' में वे साहित्य–सृजन के लिए जिस किस्म का मानदंड तय करते हैं, क्या वे अपनी कविताओं पर उसे लागू भी करते हैं या नहीं ? दूसरे शब्दों में कहें तो उनकी कविताओं के जरिए यह पता लगाया जा सकता है कि डॉ. दीन की कथनी–करनी एक थी अथवा उसमें अंतर था।

अपने इस आलेख में मैंने डॉ. दीन के साहित्य–चिंतन को स्पष्ट करने की कोशिश की है, जिसमें संदर्भ के रूप में उनकी आलोचनात्मक और रचनात्मक दोनों प्रकार की कृतियों को लिया है। इस आलेख में उन टिप्पणियों को भी विशेष महत्व दिया गया है, जो विभिन्न समयों पर विद्वानों द्वारा डॉ. दीन के साहित्य–चिंतन को ध्यान में रखकर की गई हैं। डॉ. दीन के साहित्य–चिंतन को नीचे दिए गए

बिंदुओं के जरिए आसानी से समझा जा सकता है–

साहित्यालोचन जैसे विषय पर पुनः किताब लिखने की जरूरत क्यों?– डॉ. दीन द्वारा रचित 'साहित्यालोचन : सिद्धांत और अध्ययन' का पहला संस्करण सन् 1971 में प्रकाशित हुआ था। हिन्दी में इस विषय पर कई किताबें लिखी गई हैं। लेकिन जो सबसे मशहूर है या यूँ कहें कि जिसे स्तरीय टेक्स्ट माना गया, वह है बाबू श्यामसुन्दर दास की 'साहित्यालोचन'। इस किताब का पहला संस्करण सन् 1922 में प्रकाशित हुआ था। डॉ. दीन के साहित्य–चिंतन को समझने के दौरान जो सवाल सबसे पहले जेहन में आता है, वह यह कि बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा लिखी गई किताब के तकरीबन पचास साल बाद उसी विषय पर लेखक को एक नई किताब लिखने की जरूरत क्यों महसूस हुई?

उन पचास सालों में देश, दुनिया और समाज में व्यापक बदलाव हुए। इन्हीं सालों में हमारा देश भारत अंग्रेजों से आजाद हुआ। हमने आजादी के साथ–साथ बँटवारे का भी दंश झेला। हमारे यहाँ संविधान लागू हुआ, लोकतांत्रिक व्यवस्था कायम हुई, जनता को मताधिकार मिला, चुनाव हुए, पंचवर्षीय योजनाएँ लागू हुईं, तमाम राज्यों का पुनर्गठन हुआ और कई संस्थानों का निर्माण किया गया।

वैश्विक स्तर पर देखें तो ये वही पचास साल थे जब दुनिया के अधिकांश देश औपनिवेशिक सत्ता से आजाद हुए। दुनिया ने दूसरे विश्वयुद्ध की विभीषिका झेली। नागासाकी और हिरोशिमा पर एटम बम गिराए गए। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस के बीच की तना–तनी और शीत युद्ध ने पूरी दुनिया को दो ध्रुवों में बाँट दिया। और भी कई घटनाएँ हुईं, जिन्होंने देश और दुनिया के ढाँचे को बदलकर रख दिया।

जब इन पचास वर्षों में देश और दुनिया में इतना कुछ बदल गया, तब जाहिर है कि साहित्य में भी बहुत कुछ बदला होगा। और जब साहित्य बदला है, तो उसे जाँचने–परखने के तरीकों में तब्दीली क्यों न हो ? इसी तब्दीली की जरूरत का नतीजा है डॉ. दीन की किताब 'साहित्यालोचन : सिद्धांत और अध्ययन'।

'पोथी' बनाम 'ढाई आखर' – तकरीबन 250 पृष्ठों की किताब 'साहित्यालोचन : सिद्धांत और अध्ययन' से गुजरने के बाद जो एक बात स्पष्ट रूप से समझ आती है, वह यह कि लेखक बहुपठित और बहुज्ञ हैं। इस किताब में डॉ. दीन ने जिस तरह से भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के उद्धरण उद्‌घृत किए हैं और किताब के अंत में उनके संदर्भ भी दर्ज किए हैं, वह निश्चित रूप से उनके बहुपठित और बहुज्ञ होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। कबीर–विषयक निबंधों का संकलन 'मेरा मन पंछी' में भी डॉ. दीन ने अपनी इसी बहुज्ञता का परिचय दिया है। वे कबीर पर कोई हवा–हवाई बात नहीं करते। अपनी हर स्थापना, अपने हर दावे को तर्क के साथ पुष्ट करते हैं। अपनी इस किताब में वे कबीरपंथी श्री युगलानंद महाराज से लेकर पाश्चात्य विद्वान मैकॉलिफ तक को

उद्‌धृत करते हैं। डॉ. दीन द्वारा दर्ज किए गए ये उद्धरण जबरन थोपे हुए नहीं लगते, बल्कि प्रस्तुत संदर्भों और प्रसंगों में अत्यंत आवश्यक प्रतीत होते हैं।

डॉ. दीन की शख्सियत का एक पक्ष यदि उनका बहुपठित और बहुज्ञ होना है, तो दूसरा पक्ष आम जन और लोक से उनका गहरा जुड़ाव है। इस संदर्भ में कबीरपंथी विवेकदास आचार्य द्वारा लिखित संस्मरण की ये पंक्तियाँ गौरतलब हैं– "दीन जी ने अपने आवास पर एक सत्संग का आयोजन किया, जिसमें कबीर–प्रेमी विद्वान से लेकर गरीब रिक्शा चालक तक की जमात – करीब सौ से ऊपर संतजन – इस सत्संग में सम्मिलित हुए थे। रात भर भजन–कीर्तन का कार्यक्रम चलता रहा। इस भजन कार्यक्रम के मुख्य प्रवक्ता दीन जी के कॉलेज के एक चपरासी थे। दीन जी कबीर जयंती के अवसर पर अक्सर इस तरह के आयोजन करते थे। पटना में रिक्शा चालक कबीरपंथियों के कई अड्डे थे। उन सभी लोगों में दीन जी के प्रति अगाध श्रद्धा और आत्मीयता मैंने देखी। ऐसे लोगों में दीन जी इस तरह घुल–मिल जाते थे कि कोई भेदभाव शेष ही नहीं रहता था।"

डॉ. दीन की शख्सियत का यह पहलू इस तथ्य को रेखांकित करता है कि वास्तव में वे एक सच्चे कबीरपंथी थे। इस तथ्य को नजरअंदाज करके हम उनके साहित्य–चिंतन पर बात नहीं कर सकते। यह भी उल्लेखनीय है कि डॉ. दीन कबीर के पास बुद्धि और विमर्श के रास्ते नहीं, बल्कि हृदय और प्रेम के रास्ते पहुँचे थे। इसी कारण उनके सत्संगों में समाज के तथाकथित अनपढ़ और कमजोर तबके के लोग भी उसी भाव और शिद्दत से शामिल होते थे, जिस भाव और शिद्दत के साथ उच्च शिक्षित शिक्षक, अधिकारी या नेता सम्मिलित होते थे।

यह तथ्य यह भी बताता है कि किताबी और शास्त्रीय ज्ञान से परिपूर्ण होने के बावजूद डॉ. दीन इंसानी मोहब्बत को अधिक महत्व देते थे। कबीर पर केंद्रित अपनी किताब 'मेरा मन पंछी' में उन्होंने इस बात को कबीर के इस दोहे से स्पष्ट किया है–

"पोथी पढ़–पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।।"

डॉ. दीन की नजर में 'ढाई आखर' का इंसानी प्रेम तमाम पोथियों पर भारी है। यह प्रेम उनके साहित्य–चिंतन की सबसे बड़ी विशेषता है।

शास्त्र बनाम लोक– शास्त्र बनाम लोक की बहस बहुत पुरानी है। साहित्य–सिद्धांत में इस विषय पर बहुत कुछ लिखा–बोला गया है। कई विद्वानों ने शास्त्र को नकारा है, तो कुछ ने लोक को शास्त्र से कमतर बताया है। कुछ ऐसे भी हैं, जिन्होंने शास्त्र और लोक दोनों के महत्व को स्वीकार किया है।

डॉ. दीन अपनी किताब में शास्त्र और उसकी परंपरा को रेखांकित करते हैं और उसके महत्व को भी स्वीकारते हैं। लेकिन उन्होंने बिना किसी द्वंद्व के लोक को शास्त्र से ऊपर रखा है। उन्हीं के शब्दों में– "धान रोपने, चक्की चलाने, चरखा कातने आदि अवसरों पर गाने के बहाने जिन भावों को रूपायित किया जाता है,

वही तो लोक चेतना की सच्ची अभिव्यक्ति है। आज भी जहाँ बौद्धिक विकास अपनी चरम सीमा पर पहुँचने वाला है, लोकगीतों का अपना महत्व और स्थायित्व है। जो मार्मिकता लोकगीतों में है, वह साहित्यिक गीतों में कहाँ? लोकगीत प्रकृति–जन्य हैं, साहित्यिक गीत कृत्रिम। एक में जीवन का खुलापन है और दूसरे में अस्वाभाविक संकोच।"

यहाँ लोक चेतना के कवि कबीर की याद आना अस्वाभाविक नहीं है। डॉ. दीन की यह धारणा कबीर से उनके रिश्ते को और गहरा करती है। यही कारण है कि उनकी लेखनी केवल हिंदी के मानक रूप खड़ी बोली में ही नहीं, बल्कि लोकबोली बज्जिका तक फैली हुई है। इस दृष्टि से बज्जिका में लिखित 'डुमरी हम्मर गाँव' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

'कला कला के लिये' बनाम 'कला जीवन के लिए'– कला का उद्देश्य क्या होना चाहिए– इस सवाल पर साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र की दुनिया में लंबे समय से बहस होती रही है। एक ओर वे लोग हैं, जो मानते हैं कि कला का असली मकसद सिर्फ कला है – यानी उसका काम केवल सौन्दर्य–रचना और भावनाओं का आस्वाद कराना है। इसे ही 'कला कला के लिये' कहा गया। दूसरी ओर वे लोग हैं, जो मानते हैं कि कला जीवन से कटकर नहीं रह सकती। उसका असली काम है समाज और जीवन की सेवा करना, इंसान के दुख–दर्द, संघर्ष और उम्मीदों को सामने लाना। यह विचारधारा 'कला जीवन के लिये' के नाम से जानी जाती है।

'कला कला के लिये' की मान्यता है कि अगर कला को किसी सामाजिक, राजनीतिक या नैतिक उद्देश्य से बाँधा गया, तो उसकी स्वतन्त्रता और मौलिकता खत्म हो जाएगी। कलाकार को केवल अपनी रचनात्मकता और सौन्दर्य–बोध पर ध्यान देना चाहिए। इस धारा के समर्थकों का कहना है कि कला तभी शुद्ध और खूबसूरत रहती है, जब उसे किसी बाहरी मकसद की जिम्मेदारी न दी जाए। इसके विपरीत, 'कला जीवन के लिये' की धारा यह मानती है कि कला केवल मनोरंजन या सौन्दर्य का खेल नहीं है, बल्कि जीवन और समाज को दिशा देने का साधन है। कला को आम आदमी की जिन्दगी से जुड़ना चाहिए और उसकी समस्याओं को आवाज देनी चाहिए।

डॉ. दीन कला और उससे जुड़ी इन बहसों को बहुत गंभीरता से लेते हैं और एक सचेत रचनाकार तथा एक सचेत आलोचक के रूप में अपना पक्ष स्पष्ट करते हैं। वे कला की स्वतंत्रता को एक हद तक जरूरी मानते हैं, लेकिन साथ ही कला को जिंदगी से जोड़ते हुए उसे जिंदगी का अभिन्न हिस्सा बताते हैं– "कला निरुद्देश्य नहीं, वह जीवन मूल्यों का उद्घाटन करती है। अतएव कला सोद्देश्य हुआ करती है। कला द्वारा मनुष्य अपने आवेष्टन में व्याप्त सुख–दुख, राग–द्वेष की भावनाओं को देखने–समझने की चेष्टा करता है। मानव को विश्वबंधुत्व के रागात्मक संबंध–सूत्र में बाँधने का प्रयत्न कला ही करती है।

अर्थात् कला हमारी संकुचित सीमा को विस्तार देती है और वृत्ति को परिष्कृति।"

यहाँ डॉ. दीन के कथन का आशय यह है कि कला केवल मनोरंजन या सौन्दर्य का खेल नहीं है, बल्कि उसका गहरा उद्देश्य होता है। कला जीवन के मूल्यों को सामने लाती है और इंसान के भीतर छिपी हुई भावनाओं को पहचानने और समझने की कोशिश कराती है। कला इंसान को संकीर्ण दृष्टि से निकालकर व्यापक मानवीय दृष्टिकोण देती है। जाहिर है, कला जब मानव–मन के संकुचन को तोड़ती है और उसे विस्तार देती है, तब वह जीवन से दूर कैसे हो सकती है?

मनोरंजन बनाम सोद्देश्यता– डॉ. दीन खुद एक कवि थे, इसलिए जब वे काव्य और उसके उद्देश्य पर बात करते हैं, तब वे अपनी काव्य–दृष्टि या यों कहें, अपनी रचना–दृष्टि को भी हमारे सामने रखते हैं। कविता हो, गद्य हो या फिर कला–जगत से जुड़ी हुई कोई अन्य विधा– डॉ. दीन सबके लिए एक जरूरी मानदंड तय करते हैं, और वह है– उनका सोद्देश्य होना।

डॉ. दीन के यहाँ निरर्थकता का स्पष्ट नकार है। वे काव्य को परिभाषित करते हुए लिखते हैं– "कविता वह भावाभिव्यक्ति है जो कल्पना के सहारे सार्थक बनकर प्रस्तुत हुई है।" इस छोटी–सी परिभाषा में सार्थक शब्द सबसे अहम है। डॉ. दीन निरर्थक रचनाओं, जिनका उद्देश्य सिर्फ प्रभाव पैदा करना होता है, को रचना नहीं मानते। यह अनायास नहीं है कि डॉ. दीन चमत्कार को काव्य के लिये गैरजरूरी बताते हैं– "चमत्कार–तत्व को ही काव्य का उपकरण मानना औचित्य से दूर हट जाना है। चमत्कार से मनोरंजन संभव है, जो काव्य के अंतर्गत अनुसांगिक रूप से विद्यमान रहता है; पर काव्य इससे भिन्न परिणति की ओर ले जाता है, जो सूक्ष्म है, अगोचर है और उत्कर्षपूर्ण है।"

चमत्कार को खारिज करने वाले डॉ. दीन अलंकार को भला कैसे स्वीकार करते– "जो काव्य अलंकार–योजना के साँचे में ढलकर तैयार होगा, वह कदापि अमर नहीं होगाय क्षणभर के लिए मनोरंजन करेगा और समाप्त हो जाएगा।" लेकिन जहाँ तक सवाल रस का है, वहाँ वे इसे– "काव्य का उपकरण नहीं, काव्य का सर्वस्व अर्थात आत्मा" मानते हैं। रस को 'ब्रह्मानंद सहोदर' की संज्ञा दी गई है। डॉ. दीन इस संज्ञा को रस की सबसे सटीक व्याख्या मानते हैं।

काव्य–सृजन एक बेहद जिम्मेदार और महत्त्वपूर्ण उद्देश्य के साथ होना चाहिए। इस बात को डॉ. दीन का केवल आलोचक–मन ही नहीं, बल्कि कवि–मन भी भली–भाँति समझता है। प्रस्तुत है उन्हीं की यह कविता, जिसमें कविता को ही उसके महत्त्वपूर्ण उद्देश्य के साथ परिभाषित किया गया है–

"कविता की परिभाषा–/कि यह सूक्ष्म दृष्टि का/विराट दर्शन है।/कि भाव–लोक की राग–द्वेष जनित/कोई कलामय अभिव्यंजना है,/या कि तवारीख–ए–जिंदगी की/कोई नई रोशनी है–/कि जिसमें जीने की सुनहरी तमन्नाएँ/फूलों की तरह/मुस्कुराती–इतराती/अंगड़ाइयाँ लेती हैं और/आगामी जीवन की खयाली योजनाएँ/सुसज्जित होती हैं।/'हम राष्ट्र के भाव भवन

की/नींव की ईंट बनेंगे,/विश्व–परक आदर्श की–/अमर ज्योति की दीपित लपटें बनेंगे,/निरंतर नूतन सृजन के लिए/धरती में बीज रूप सड़ते रहेंगे,/बाधाओं से लड़ते रहेंगे।/हमारे कदम बढ़ते रहेंगे–/तमसो मा ज्योतिर्गमय,/असतो मा सद्गमय,/मृत्योर्मा अमृतं गमय।"

राष्ट्रीयता बनाम अंतर्राष्ट्रीयता– डॉ. दीन का चिंतन वैश्विक था। वे तमाम साहित्यिक विधाओं की चर्चाओं में वैश्विक विकासक्रम को एक जरूरी संदर्भ के तौर पर रेखांकित करते हैं। उनके यहाँ राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता में कोई टकराव नहीं, बल्कि एक आवश्यक संतुलन है। वे तमाम समाजों और देशों के बीच के आदान–प्रदान को मानवीय सभ्यता के विकास के लिए आवश्यक बताते हैं। 'अनुकरण' पर बात करते हुए अपनी इस दृष्टि को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है– "सूर्य एक है, धरती एक, हवा एक है, आकाश एक, समग्र मानव–हृदय एक है, धड़कन एकय हम किसकी अनुकृति करते हैं? भौगोलिक या पारंपरिक कारणों से हम विभिन्न भाषा, भिन्न धर्म और भिन्न वेशभूषा को लेकर चलने वाले हैं। ''परस्पर सहयोग, सम्मिलन एवं सांस्कृतिक आदान–प्रदान से हम एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं और प्रभावित होते हैं। इसका परिणाम विश्व–साहित्य पर भी पड़ता है और निश्चित रूप से पड़ता है।"

स्पष्ट है कि डॉ. दीन की वैश्विक दृष्टि संकीर्ण नहीं है, बल्कि इस मजबूत धारणा पर टिकी है कि इंसानी सभ्यता आपसी आदान–प्रदान पर आधारित है, उसी के सहारे विकसित हुई है और लगातार हो रही है। विश्व–साहित्य के विकास की कहानी मानवीय सभ्यता के विकास से अलग नहीं है।

जटिल भाषा बनाम सहज भाषा– साहित्य–सिद्धांत जैसे विषय पर बात करते हुए भाषा अक्सर जटिल और दुरूह हो जाती है, लेकिन डॉ. दीन की भाषा पर यह बात लागू नहीं होती। कविता की तरह ही उनकी भाषा एकदम सहज है। उनकी सहज भाषा उनकी आलोचना–दृष्टि को एक अलग मुकाम पर ले जाती है। उनकी भाषा की सहजता, सुंदरता और प्रवाहमयता के पीछे कबीर और उनका भाषा–चिंतन है, और यह भी कि वे खुद भी पहले एक कवि हैं, आलोचक बाद में। जैसा उनका सुरुचिपूर्ण, सांस्कृतिक, परिष्कृत व्यक्तित्व रहा वैसी ही परिष्कृत उनकी भाषा भी रही।

'साहित्यालोचन : सिद्धांत और अध्ययन' की तमाम विशेषताओं में एक महत्वपूर्ण विशेषता उसकी सूत्रात्मक भाषा है। किताब के सैकड़ों स्थलों पर ऐसे सूत्र–वाक्य नजर आते हैं, जहाँ आप ठहर जाते हैं, सोचते हैं और फिर अर्थ के खुल जाने पर चमत्कृत भी होते हैं। मसलन–

"साहित्य के दो पंख हैं– दर्शन और सर्जन।"

"अर्थ के बिना शब्द शव हैं।"

"अनुभूति अगर हृदय की वाणी है तो विचार मस्तिष्क का स्वर।"

सूत्र–वाक्यों के अलावा इस किताब में प्रयुक्त तमाम तालिकाएँ इसकी

प्रस्तुति और अभिव्यक्ति को और अधिक असरदार बनाती हैं। ये तालिकाएँ हमें याद दिलाती हैं कि लेखक कवि–आलोचक के साथ–साथ अध्यापक भी रहे हैं। इन तालिकाओं को पढ़कर–समझकर हम साहित्य के गूढ़ सिद्धांतों और वर्गीकरणों को बहुत आसानी से समझ सकते हैं। यहाँ इस किताब पर राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' द्वारा की गई टिप्पणी समीचीन प्रतीत होती है, "जिज्ञासु छात्र इस ग्रंथ का आधार लेकर बहुत कुछ पूछ सकता है, बहुत कुछ समझ सकता है, चाहे तो साहित्य का विद्वान बन सकता है।"

और अंत में...

आदमी कई वजहों से बड़ा बनता है। उन कई वजहों में एक जरूरी वजह चिंता भी है। मेरा खयाल है कि जिसकी जितनी बड़ी चिंता होती है, वह आदमी उतना ही बड़ा होता है। डॉ. दीन की चिंता भी बहुत बड़ी है। उनकी चिंता है कि साहित्य चिंतन और आलोचना पर एक मुकम्मल बात होनी चाहिए। उनकी चिंता है कि साहित्य को सोद्देश्य होना चाहिए। उनकी चिंता कला के पक्ष में है। उनकी चिंता जिंदगी के पक्ष में है। उनकी चिंता साहित्य के पक्ष में है। उनकी चिंता मनुष्यता के पक्ष में है। उन्होंने ऐसी ही एक चिंता अपनी किताब मनीषा : दृष्टि व दिशाएँ की भूमिका में जाहिर की है– "संपूर्ण समाज, देश और मानव भ्रांति की ऊहा में भटकता दृष्टि और दिशा के लिये छटपटा रहा है। ''समय आ गया है जब द्रष्टा और स्रष्टा औचित्य की मशाल बनकर नव–सृजन को आलोक दें।" यहाँ फिर से उस कबीर की याद आती है, जिसकी रौशनाई में डॉ. दीन ने अपने साहित्य को सिरजा है– "सुखिया सब संसार है, खायै अरु सोवै।/दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै।।"

और अंत में एक सवाल कि हिन्दी की अदबी दुनिया में डॉ. दीन को कैसे याद किया जाना चाहिए– मेरा खयाल है कि सबसे पहले उन्हें हम एक ऐसे शख्स के रूप में याद करें, जो न सिर्फ प्रभावी साहित्य रचे, बल्कि साहित्य को समझने–परखने के लिए एक जरूरी सलीका और एक लहजा भी बताएँ। जिनके साहित्य–चिंतन को किसी वाद विशेष में नहीं बाँधा जा सकता। जिनकी रचना–दृष्टि संवादात्मक, रचनात्मक और जीवन–निष्ठ है। उन्हें साहित्यालोचन को समाज, संस्कृति और नैतिकता से जोड़ने वाले आलोचक के रूप में भी याद किया जा सकता है। डॉ. दीन को एक ऐसे रचनाकार के रूप में याद करना चाहिए, जो कबीर के 'ढाई आखर' में गहरी आस्था रखते थे और जिन्होंने ता–उम्र मानवीय प्रेम का गीत गाया– "जो गीत नहीं मैं गा पाता,/वह मर्म–गीत तुम गा दो!/सरिता साथी है भटक रही,/वेदना–कली है चटक रही,/जिसको न जगत सहला पाता,/वह घायल मन सहला दो!"

संदर्भ–

1 देखें, उषारानी सिंह, स्मृति : डॉ. सीताराम दीन, मांगलिका प्रकाशन, पटना

2 इस किताब का पहला संस्करण लेखक के जीवन–काल में ही सन् 1971 में प्रकाशित

हुआ। दूसरा संस्करण लेखक के मरणोपरांत सन् 1995 में प्रकाशित हुआ। किताब का तीसरा संस्करण एक नये कलेवर में सर्व भाषा ट्रस्ट के द्वारा सन् 2025 में प्रकाशित हुआ।

3 डॉ. सीताराम दीन, 'साहित्यालोचन : सिद्धांत और अध्ययन', सर्व भाषा ट्रस्ट, नई दिल्ली, पृ.– 252–256

4 डॉ. सीताराम दीन, 'मेरा मन पंछी', मांगलिका प्रकाशन, पृ.– 1

5 डॉ. उषारानी सिंह, स्मृति : डॉ. सीताराम दीन, मांगलिका प्रकाशन, पटना, पृ.– 18

6 डॉ. सीताराम दीन, 'साहित्यालोचन : सिद्धांत और अध्ययन', सर्व भाषा ट्रस्ट, नई दिल्ली, पृ.– 99

7 डुमरी हम्मर गाँव, बज्जिका में डॉ. सीताराम दीन द्वारा लिखित एक काव्य संग्रह है, जो उनके मरणोपरांत सन् 1996 में प्रकाशित हुआ।

8 डॉ. सीताराम दीन, 'साहित्यालोचन रू सिद्धांत और अध्ययन', सर्व भाषा ट्रस्ट, नई दिल्ली, पृ.– 20

9 वही, पृ.– 57

10 वही, पृ– 69–70

11 वही, पृ– 71

12 वही, पृ– 70

13 डॉ. सीताराम दीन, 'मनुजता की मौत : एक परिक्रमा', मांगलिका प्रकाशन, पृ.– 24

14 डॉ. सीताराम दीन, 'साहित्यालोचन : सिद्धांत और अध्ययन', सर्व भाषा ट्रस्ट, नई दिल्ली, पृ.– 126

15 वही, पृ.– 35

16 वही, पृ.– 36

17 वही, पृ.– 42

18 वही, पुस्तक का फ्लैप

19 डॉ. सीताराम दीन, मनीषा : दृष्टि व दिशाएँ, सेतु प्रकाशन, झाँसी, पृ.– 5

20 डॉ. सीताराम दीन, मांगलिका, पृ.–18

■

शब्द चिंतन

'को बाभन को सूदा'

संघर्ष और सपनों का मुकाम

डॉ. सुशांत कुमार*

'को बाभन को सूदा' बहुजन दृष्टि से लिखी गयी पिछड़े वर्ग की पहली आत्मकथा है। चर्चित लेखक, चिंतक, आलोचक, प्राचार्य एवं साहित्यकार हरिनारायण ठाकुर की अभाव, संघर्ष, सपनें और ऊँचे मुकाम तक पहुँचने की बेहद भावुक परंतु प्रेरक कहानी इस आत्मकथा में पूरी सच्चाई के साथ दर्ज है। दर्ज है अभाव में हुई उनकी शिक्षा–दीक्षा की संघर्ष भरी दास्तान, समस्याओं से भरा बेपरवाह बचपन, गाँव का समाज, अंधविश्वास, भूत–प्रेत, जातिगत भेदभाव, शादी, सपनें, आत्म–संघर्ष, परिवार, नौकरी और सेवा। यह आत्मकथा लेखक ने अपनी माँ स्वर्गीय देवरति देवी के चरणों में सादर समर्पित किया है। पुस्तक की भूमिका दलित साहित्य के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर एवं आत्मकथाकार मोहनदास नैमिशराय ने लिखी है। पुस्तक का नामकरण कबीर के बहुचर्चित दोहे हुई है, जिसे आभार पृष्ठ के पश्चात् दर्ज कर पूर्वज कवि कबीर के प्रति आत्मिक आभार व्यक्त किया गया है। 'दलित साहित्य का समाजशास्त्र' पुस्तक के सुपरिचित लेखक हरिनारायण ठाकुर की अब तक अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें 'बिहार में अति पिछड़ा वर्ग आंदोलन', 'हिन्दी की दलित कहानियाँ', 'भारत में पिछड़ा वर्ग आंदोलन और परिवर्तन का नया समाजशास्त्र', 'भारतीय साहित्य का शूद्र–पाठ (शुद्ध–पाठ)', 'कर्पूरी ठाकुर : जननायक से भारत रत्न तक' आदि प्रमुख है।

समय, समाज तथा जाति–व्यवस्था जनित अमानवीय शोषण का समाजशास्त्र इस आत्मकथा की धुरी है। परंतु शोषण के केंद्र में कोई दलित या स्त्री नहीं बल्कि पिछड़े समाज का व्यक्ति है। दलित और स्त्री आत्मकथाओं के माध्यम से समाज में व्याप्त शोषण के अमानवीय रूपों से समाज परिचित है। लेकिन पहली बार अति पिछड़ी नाई (हजाम) जाति से आने वाले हरिनारायण ठाकुर के माध्यम से पिछड़ी जातियों के साथ हो रहे जातीय उत्पीड़न, शोषण, भेदभाव एवं अमानवीयता का रूप हमारे सामने आया है। ऐसा नहीं कि इन भेदभावों से भारतीय समाज अनभिज्ञ है। समाजशास्त्र की पुस्तकों में जातीय भेदभाव व शोषण पर व्यापक

* **संपर्क** – सहायक प्राध्यापक, विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग, बाबसाहब भीमराव अंबेडकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, मो–7503876719

विमर्श हुआ है। पिछड़े समाज के अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों ने अपनी आत्मकथा भी लिखी है। लेकिन पिछड़े समाज से आने वाले साहित्यकारों या महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों ने अपनी आत्मकथा में जातीय भेदभावों पर प्रमुखता से विमर्श नहीं किया है। इसलिए उनकी आत्मकथाओं में बहुजन दृष्टि का अभाव है। इस दृष्टिगत अभाव या साहित्यिक अंतराल को 'को बाभन को सूदा' के माध्यम से भरने का सफल प्रयास हरिनारायण ठाकुर ने किया है।

यह आत्मकथा सिर्फ हरिनारायण ठाकुर की नहीं है। यह उनके जैसे सैकड़ों–हजारों लोगों की आत्मकथा है, जिन्होंने घोर अभाव में रहकर एवं संघर्ष के माध्यम से सफलता हासिल की है। घर–परिवार सहित गाँव–समाज को बेहतर बनाने में योगदान दिया है। जिन व्यक्तिगत, सामाजिक–सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने उनके जीवन को आकार, दिशा व गति प्रदान किया है, उन परिस्थितियों का लेखा–जोखा पूरी सच्चाई के साथ आत्मकथाकार ने अभिव्यक्त किया है। इस आत्मकथा की एक अन्यतम विशेषता यह है कि यह परिस्थितियों के सापेक्ष जीवन–व्यापार को रेखांकित करता है। इसलिए जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली परिस्थितियों में एक 'राजनीतिक परिस्थिति' की चर्चा सबसे अधिक मिलती है। इन राजनीतिक परिस्थितियों को देश के महत्त्वपूर्ण राजनेताओं के माध्यम से लेखक ने अभिव्यक्त है। इनमें भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू, बिहार के प्रथम मुख्यमंत्री श्री कृष्ण सिंह, भारत रत्न श्री कर्पूरी ठाकुर, बिहार के पूर्व मुख्यमंत्री श्री लालू प्रसाद यादव सहित शहाबुद्दीन तक का नाम प्रमुखता से आया है। आत्मकथाकार ने इस पुस्तक में बिहार के पूर्व मुख्यमंत्री श्री कर्पूरी ठाकुर एवं श्री लालू प्रसाद यादव को सामाजिक न्याय के मसीहा एवं बिहार में सामाजिक परिवर्तन के नायक के रूप में उद्धृत किया है।

आत्मकथा के केंद्र में लेखक का घर–परिवार है. बिहार के सीतामढ़ी जिले के पिछड़े सवर्ण बहुल गाँव में गरीब हजाम (नाई) संयुक्त परिवार में जन्मे लेखक की यह आत्मकथा उस स्थान, क्षेत्र, समय एवं समाज की एक महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्री अध्ययन हमारे सामने प्रस्तुत करता है। एक गरीब किंतु अनपढ़ पिता अपने पुत्र को पढ़ा लिखाकर बड़ा आदमी बनते हुए देखना चाहता है। परंतु प्रतिभाशाली पुत्र अपने पिता को समुचित इलाज के अभाव में मरते हुए देखता है, आर्थिक मजबूरी ऐसी कि वह उनके हित में कुछ भी नहीं कर सका। इस तरह घोर गरीबी में ही पिता की मृत्यु हो जाती है। यह अपराध बोध लेखक के मन में घर कर जाती है। जिसका परिणाम यह होता है कि नौकरी लगने से लेकर अन्य खुशियों के अवसर पर भी लेखक पूजा–पाठ से स्वयं को अलग कर लेता है। इस प्रकार लेखक का एक परिस्थितिजन्य व्यक्तित्व हमारे सामने आता है। वह व्यक्तित्व आडंबर विरोधी एवं मानवतावादी विचार से युक्त है। पिता की मृत्यु के बाद परिवार कर्ज में डूब जाता है। संयुक्त परिवार का पालन–पोषण मुश्किल हो जाता है। परंतु लेखक ने इन विषम परिस्थिति में भी पढ़ना–लिखना नहीं

छोड़ा। आखिरकार उनको प्राथमिक विद्यालय में शिक्षक की नौकरी मिल जाती है। धीरे–धीरे ही सही लेकिन उनके परिवार का जीवन पटरी पर लौटने लगता है। वे जीवन के पथ पर अग्रसर हो जाते हैं। शिक्षक से प्रोफेसर बनने की कहानी की जातीय दृष्टि से अगर परिचित होना चाहते हैं तो आपको भी यह आत्मकथा पढ़नी चाहिए। यह आत्मकथा यह संदेश देने में सफल हुई है कि एक पिछड़े सामाजिक पृष्ठभूमि व जाति से आने वाले प्रतिभावान छात्र को सामाजिक भेदभावों एवं जलालत के बीच से गुजरकर ही राह बनानी पड़ती है।

हरिनारायण ठाकुर की लेखकीय सफलता इस बात में भी है कि उन्होंने जातीय स्वाभिमान को अभाव एवं संघर्ष के वक्त से लेकर आजीवन बनाए रखा है तथा कभी भी उसे छिपाने की कोशिश नहीं की है। दलित–पिछड़े समाज से आने वाले व्यक्तियों पर सबसे पहले उनकी जातीय अस्मिता पर ही मनोवैज्ञानिक हमले होते हैं। लेकिन ठाकुर जी ने इस पुस्तक में 'हजाम का घर' शीर्षक के अन्तर्गत 'जाति व्यवस्था और हजाम जाति की उत्पत्ति का इतिहास' उप शीर्षक के माध्यम से हजाम जाति के इतिहास पर विस्तार पूर्वक चर्चा करते हुए सामाजिक मनोविज्ञान को नकार दिया हैं। इसलिए इस आत्मकथा में बड़े ही आदर एवं सम्मान सहित वे दलित–पिछड़े समाज से आने वाले पात्रों को समुचित स्थान प्रदान करते हैं। इनमें गाँव के डोम, गणेश राम, महेश राम, जानकी साह तुरहा, नथुनी नट, नथुनी मुसहर, शम्भू, महेश, डाकू गगनदेव सहित गाँव के मुखिया जी का नाम प्रमुखता से आता है। इस तरह यह आत्मकथा सिर्फ बिहार के पिछड़े जिले सीतामढ़ी के मेजरगंज के खैरबा गाँव से निकले एक प्रतिबद्ध लेखक की नहीं, बल्कि पूरे क्षेत्र की सामाजिक–सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों की कहानी है।

■

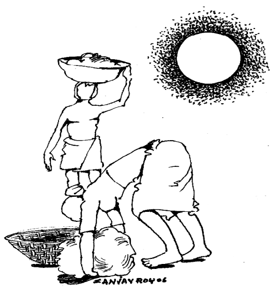

शब्द चिंतन

साहित्य के फलक में चमकता सितारा

रूबी भूषण*

उड़िया कहानी का इतिहास भारतीय कथा–साहित्य की समृद्ध परंपरा का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। आधुनिक उड़िया कहानी का आरम्भ सन् 1898 में फकीर मोहन सेनापति की प्रसिद्ध कहानी 'रेवती' से माना जाता है।

फकीर मोहन सेनापति के बाद गोपीनाथ मोहंती, कान्हू चरण मोहंती, सुरेन्द्र मोहंती और मनोज दास, प्रतिभा राय अनेक साहित्यकारों ने उड़िया साहित्य को नई ऊँचाइयाँ प्रदान कीं। इन्हीं महान रचनाकारों में समकालीन उड़िया साहित्य के अत्यंत प्रतिष्ठित, बहुआयामी और सशक्त साहित्यकार हैं गौरहरि दास हैं। गौरहरि दास केवल कहानीकार ही नहीं, बल्कि उपन्यासकार, लघुकथाकार, निबंधकार, व्यंग्यकार, स्तंभकार और संवेदनशील चिंतक भी हैं। उन्होंने अपनी साहित्य–साधना के माध्यम से उड़िया साहित्य को नई दृष्टि, नया तेवर और नई सामाजिक चेतना प्रदान की है। उनकी रचनाएँ केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं हैं, बल्कि समाज का जीवंत दस्तावेज हैं। वे मनुष्य की पीड़ा, उसके संघर्ष, उसकी संवेदनाओं, सामाजिक विसंगतियों और बदलते जीवन–मूल्यों का ऐसा चित्र प्रस्तुत करते हैं जो पाठक के अंतर्मन को झकझोर देता है।

फकीर मोहन सेनापति ने आम ठेठ उड़िया में सामाजिक यथार्थवाद को प्रमुखता दी। उड़िया के सामाजिक यथार्थवाद को मोहन सेनापति ने अपनी रचनाओं में प्रमुख स्थान दिया। छः माण आठ गुण्ठा उपन्यास में उन्होंने अपने समय की शोषित किसानों और समाज की तस्वीर पेश की। ठीक वैसा ही चित्रण गौरहरि दास की कृति ओ अन्य गल्पू (काँटा और अन्य कहानियाँ) में देखने को मिलता है। इसमें गौरहरि दास ने आधुनिकता और परंपरा के द्वंद्व जो फकीर मोहन की तरह ही प्रतीत होता है। 'छामण आठ गुण्ठा' के सबसे निचले शोषित पात्र जैसे (सरिया और भगिया) को कहानी का नायक बनाया गया था, उसी प्रकार गौरहरि दास की कोई भी कहानी हो, चाहे (काँटा तथा अन्य कहानियाँ) में मुख्य रूप से शोषितों के प्रति अपनी लेखनी चलाई है। गौरहरि दास की इस पुस्तक की कहानियाँ फकीर मोहन सेनापति की कहानी 'रेवती' की याद दिलाती है।

* **संपर्क** – चर्चित कथा लेखिका। 102, शिवराज अपार्टमेंट, उत्तरी बोरिंग केनाल रोड, पंचमुखी हनुमान मंदिर के निकट, पटना–800 001

युग बदला, शोषण के तरीके बदले, समाज की समस्याएँ बदलीं, पर, गौरहरि दास की रचनाओं में समाज की कुप्रथाओं को पाठकों के सामने लाकर खड़ा किया है।

ठीक उन्हीं की परंपरा को निभाते हुए आधुनिक लेखक गौरहरि दास की कहानियों में समकालीन समाज की विकृतियाँ, ग्रामीण जीवन में हो रहे बदलाव, स्त्रियों के शोषण को बाखूबी उकेरा है।

गौरहरि दास को फकीर मोहन सेनापति की तरह लोक जीवन के प्रति सजग लेखक की पंक्ति में लाकर खड़ा करता है।

दोनों ही लेखक संवेदनशील हाशिए पर खड़े समाज को अपने लेखन में प्रमुखता दी है।

गौरहरि दास की रचनाओं में उड़िया जन–जीवन की झलक, वहाँ के मुहावरों की सहज अभिव्यक्ति की है तथा उड़िया समाज का वह सत्य जो धरातल पर मिलता है, वह सब फकीर मोहन सेनापति की तरह इनमें भी साफ दिखाई पड़ता है।

गौरहरि दास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपने पात्रों के भीतर उतरकर लिखते हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो पात्रों का दुःख उनका अपना दुःख बन जाता है और पात्रों की खुशी उनके अपने जीवन का उत्सव। यही कारण है कि उनकी कहानियों और उपन्यासों के पात्र केवल कागज पर अंकित चरित्र नहीं रह जाते, बल्कि पाठकों के मन में जीवित हो उठते हैं। उनकी पीड़ा, संघर्ष, असफलताएँ, आकांक्षाएँ और सपने पाठक स्वयं अनुभव करने लगता है।

उनकी रचनाओं में समाज के जनजीवन, लोकसंस्कृति, मानवीय संबंधों, नैतिक मूल्यों तथा बदलती सामाजिक परिस्थितियों का अत्यंत यथार्थ और प्रभावशाली चित्रण मिलता है। गाँव की मिट्टी की सोंधी गंध हो या महानगरों की कृत्रिम चकाचौंध, पारिवारिक विघटन हो या आधुनिक मनुष्य का अकेलापन– गौरहरि दास प्रत्येक विषय को समान संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करते हैं। वे समाज के उन वर्गों को भी अपनी रचनाओं में स्थान देते हैं जिन्हें मुख्यधारा का साहित्य प्रायः अनदेखा कर देता है। उनके साहित्य में किसान, मजदूर, स्त्री, वृद्ध, बच्चे, कलाकार, शरणार्थी, दलित, आदिवासी और संघर्षशील मध्यमवर्गीय परिवार समान अधिकार के साथ उपस्थित हैं।

उनकी लेखनी का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि वे पात्रों के चरित्र–चित्रण, संवाद और वातावरण को इस प्रकार एक सूत्र में बाँधते हैं कि पूरी कथा सहज, स्वाभाविक और प्रभावी बन जाती है। उनके संवाद छोटे, सटीक और मर्मस्पर्शी होते हैं। वे अनावश्यक विस्तार से बचते हैं, किन्तु कुछ ही शब्दों में पात्रों के मनोभावों को पाठक के सामने स्पष्ट कर देते हैं। यही उनकी कथाशिल्प की सबसे बड़ी शक्ति है।

ऐसे रचनाकार विरले होते हैं जिनके व्यक्तित्व और कृतित्व को अलग–अलग

करके नहीं देखा जा सकता। गौरहरि दास का सम्पूर्ण जीवन साहित्य के प्रति समर्पण, सामाजिक उत्तरदायित्व और मानवीय मूल्यों की साधना का पर्याय रहा है। उन्होंने पचहत्तर से अधिक पुस्तकों की रचना की है जिनमें कहानियाँ, लघुकथाएँ, उपन्यास, निबंध, संस्मरण, व्यंग्य और विविध विधाओं की कृतियाँ सम्मिलित हैं। प्रत्येक रचना में उनके व्यापक अध्ययन, गहन अनुभव और सामाजिक सरोकारों की स्पष्ट झलक दिखाई देती है।

पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उनका योगदान अत्यंत उल्लेखनीय रहा है। उन्होंने 'संवाद' जैसे प्रतिष्ठित समाचारपत्र में 'राजधानी राजनीति' शीर्षक से व्यंग्य–स्तंभ लिखा, जिसने पाठकों के बीच अत्यधिक लोकप्रियता अर्जित की। उनके व्यंग्य केवल हास्य उत्पन्न करने के लिए नहीं होते, बल्कि वे सत्ता, समाज और व्यवस्था की विसंगतियों पर तीखा प्रहार करते हैं। उनके व्यंग्य में विनोद है, पर उससे कहीं अधिक गहरी सामाजिक चेतना और जीवन–दर्शन है।

गौरहरि दास की साहित्य–यात्रा को केवल उनकी प्रकाशित पुस्तकों, पुरस्कारों अथवा सम्मानों से नहीं आँका जा सकता। उनकी वास्तविक उपलब्धि यह है कि उन्होंने अपने लेखन के माध्यम से मनुष्य के भीतर सोई हुई संवेदनाओं को जगाने का कार्य किया। उन्होंने ज्ञान की ज्योति, सतत अध्ययन, अथक परिश्रम और निरंतर साधना के बल पर स्वयं को साहित्य की भट्ठी में तपाया और तभी एक कालजयी साहित्यकार के रूप में स्थापित हुए।

उनके व्यक्तित्व को देखकर अल्लामा इकबाल का प्रसिद्ध शेर सहज ही स्मरण हो आता है–

''खुदी को कर बुलंद इतना कि हर तकदीर से पहले,
खुदा बंदे से खुद पूछे बता तेरी रजा क्या है।''

और उनकी साहित्य–साधना के संदर्भ में यह शेर भी पूर्णतः सार्थक प्रतीत होता है–

''हजारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पे रोती है,
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा।''

निस्संदेह गौरहरि दास ऐसे ही दीदावर साहित्यकार हैं जिन्होंने अपने लेखन से साहित्य–जगत को समृद्ध किया है।

यदि हम उनके उपन्यासों और कहानियों के पात्रों पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट होता है कि वे केवल घटनाओं का वर्णन नहीं करते, बल्कि जीवन–दर्शन की स्थापना भी करते हैं। उनके पात्र समाज के प्रतिनिधि पात्र हैं, जिनमें हमारे समय की बेचैनी, संघर्ष और उम्मीद एक साथ दिखाई देती है।

उनके उपन्यास 'कितने रंगों का जीवन' के पात्र इसका उत्कृष्ट उदाहरण हैं। तमाल इस उपन्यास का अत्यंत प्रभावशाली पात्र है। वह एक संवेदनशील युवा चित्रकार है। उसके लिए चित्रकला केवल जीविका का साधन नहीं, बल्कि समाज को बेहतर बनाने का माध्यम है। वह शांत स्वभाव का है, किन्तु अन्याय,

शोषण और संवेदनहीनता के विरुद्ध उसका आक्रोश मुखर होकर सामने आता है। विपरीत परिस्थितियाँ उसके साहस को कभी कमजोर नहीं करतीं। वह संघर्ष को जीवन का स्वाभाविक अंग मानते हुए निरंतर आगे बढ़ता है। तमाल के माध्यम से लेखक ने युवा पीढ़ी की रचनात्मक शक्ति, सामाजिक उत्तरदायित्व और परिवर्तन की आकांक्षा को प्रभावी रूप से प्रस्तुत किया है।

राजश्री आधुनिक भारतीय स्त्री का अत्यंत मार्मिक चित्र प्रस्तुत करती है। बाहरी दृष्टि से उसके पास धन, वैभव और सभी भौतिक सुविधाएँ हैं, किन्तु भीतर से वह अत्यंत अकेली है। पति की उपेक्षा, संतानहीनता और भावनात्मक रिक्तता उसे निरंतर कचोटती रहती है। वह सामाजिक मर्यादाओं और रूढ़ियों के बंधनों में जकड़ी हुई है, परन्तु तमाल का जीवंत व्यक्तित्व उसके भीतर सोई हुई चेतना को जगाता है। वह स्वयं को समाजोपयोगी कार्यों से जोड़ने का निर्णय लेती है। इस प्रकार लेखक ने यह संदेश दिया है कि जीवन की वास्तविक सार्थकता केवल भौतिक सुखों में नहीं, बल्कि सामाजिक उत्तरदायित्व और आत्मिक संतोष में निहित है।

इसी प्रकार कावेरी, राजलक्ष्मी का चरित्र आधुनिक समाज की जटिलताओं का प्रतिनिधित्व करता है। प्रेमी की मृत्यु, सामाजिक अपमान और लोकलाज के भय से जूझने वाली यह स्त्री आत्महत्या का विचार त्यागकर संघर्ष का मार्ग चुनती है। वह कॉर्पोरेट जगत में अपनी पहचान बनाती है, किन्तु वहाँ भी उसे अनेक प्रकार के समझौते करने पड़ते हैं। 'हनी ट्रैप' जैसी परिस्थितियाँ और पुरुष–प्रधान मानसिकता उसकी सफलता की राह में निरंतर बाधाएँ उत्पन्न करती हैं। लेखक ने उसके माध्यम से आधुनिक स्त्री की शक्ति, विवशता, संघर्ष और आत्मसम्मान का अत्यंत यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है।

अंततः कहा जा सकता है कि गौरहरि दास केवल उड़िया साहित्य के महत्वपूर्ण रचनाकार नहीं, बल्कि भारतीय साहित्य की उस गौरवशाली परंपरा के प्रतिनिधि साहित्यकार हैं, जिन्होंने साहित्य को समाज परिवर्तन का सशक्त माध्यम बनाया। उनका साहित्य मानवीय संवेदनाओं का जीवंत दस्तावेज है। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से लोकजीवन की पीड़ा, सामाजिक विसंगतियों, मानवीय संघर्ष, नैतिक मूल्यों और जीवन की अनंत संभावनाओं को अत्यंत कलात्मक और प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त किया है।

उनकी साहित्य–साधना आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा का स्रोत है। वे हमें यह विश्वास दिलाते हैं कि जब तक साहित्य में संवेदना जीवित है, तब तक समाज में मनुष्यता भी जीवित रहेगी। यही किसी भी महान साहित्यकार की सबसे बड़ी उपलब्धि होती है और इसी कसौटी पर गौरहरि दास निस्संदेह समकालीन भारतीय साहित्य के अग्रणी और कालजयी रचनाकारों की पंक्ति में प्रतिष्ठित होते हैं।

■

R.N.I. Reg. No. DELHIN/2003/13814 UGC CARE LISTED JOURNAL, SN.-63

आस्था भारती, दिल्ली के लिए के.एम.एस. राव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एंड प्रिंटर्स, ई-33, सेक्टर-ए.5/6, उ.प्र. समापन क्षेत्र, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद-201103 (उ.प्र.) द्वारा मुद्रित।

सम्पादक : डॉ. शिवनारायण

e-mail : shivnarayan22@yahoo.com

आवरण चित्र : आनन्दी प्रसाद बादल